102

कल्याण

वर्ष ४०] * * * [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ २०२३, जून १९६६

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
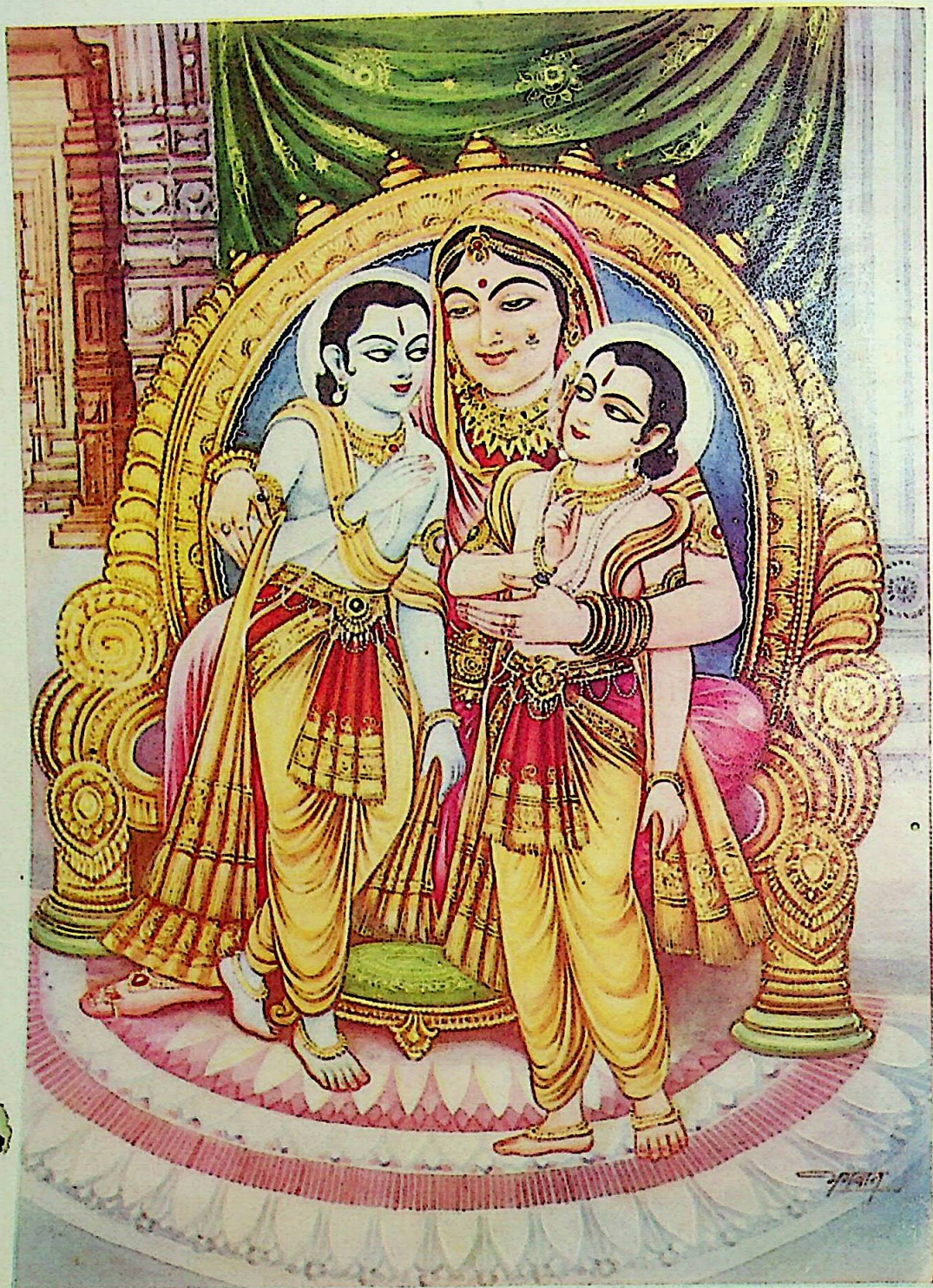
भरत-शत्रुघ्नके साथ माता कौसल्या आनन्दमग्न

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
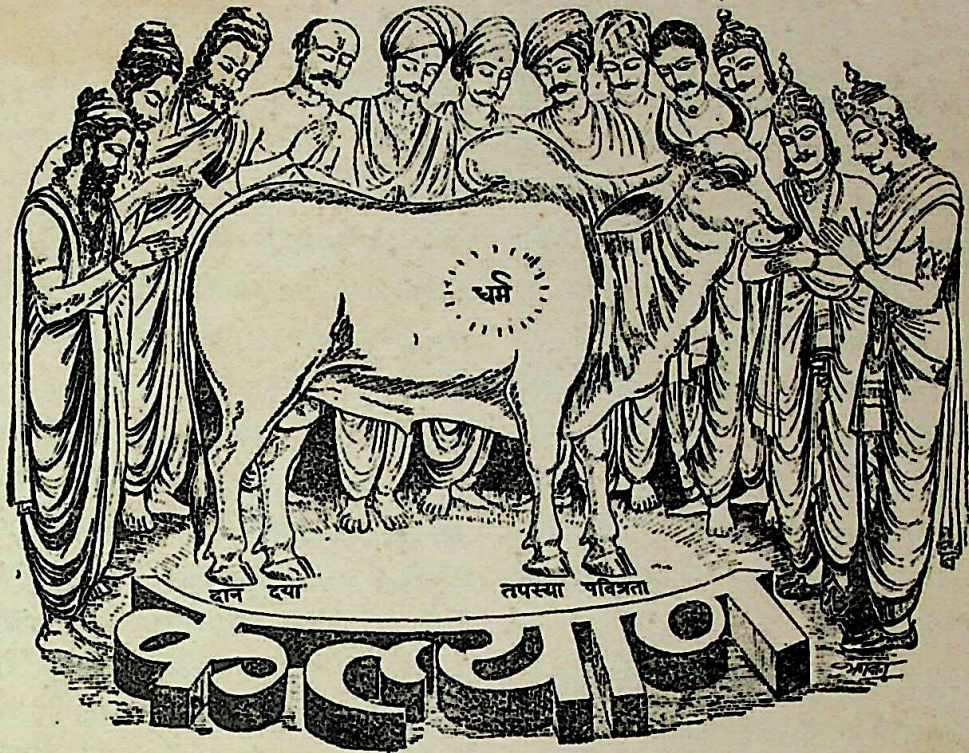
लोके यस्य पवित्रतोभयविधा दानं तपस्या दया चत्वारश्चरणाः शुभानुसरणाः कल्याणमातन्वते ।
यः कामाद्यभिवर्षणाद् वृषवपुर्ब्रह्मर्षिराजर्षिभिर्विट्शूद्रैरपि वन्द्यते स जयताद्धर्मो जगद्धारणः ॥

वर्ष ४० | गोरखपुर, सौर आषाढ २०२३, जून १९६६ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ४७५

कौसल्याका आनन्द

सानुज भरत भवन उठि धाए ।
पितु-समीप सब समाचार सुनि, मुदित मातु पहँ आए ॥ १ ॥
सजल नयन, तनु पुलक, अधर फरकत लखि प्रीति सुहाई ।
कौसल्या लिये लाइ हृदय, 'बलि कहौ, कछु है सुधि पाई ?' ॥ २ ॥
'सतानंद उपरोहित अपने तिरहुति-नाथ पठाए ।
खेम-कुसल रघुबीर-लषनकी ललित पत्रिका ल्याए ॥ ३ ॥
दलि ताड़का, मारि निसिचर, मख राखि, बिप्र-तिय तारी ।
दै बिद्या लै गये जनकपुर, हैं गुरु-संग सुखारी ॥ ४ ॥
करि पिनाक-पन, सुता-स्वयंबर सजि, नृप-कटक बटोर्‍यो ।
राजसभा रघुबीर मृनाल-ज्यों संभु-सरासन तोर्‍यो' ॥ ५ ॥
यों कहि सिथिल-सनेह बंधु दोउ, अंब अंक भरि लीन्हें ।
बार-बार मुख चूमि, चारु मनि-बसन निछावरि कीन्हें ॥ ६ ॥
सुनत सुहावनि चाह अवध घर-घर आनंद बधाई ।
तुलसिदास रनिवास रहस-बस, सखी सुमंगल गाई ॥ ७ ॥

याद रक्खो—मनुष्य स्वाभाविक ही आनन्द चाहता है और वह अपनी समझसे दिन-रात आनन्दकी प्राप्तिके उपाय ही सोचता है और उसीके लिये कार्य करता है। अनुकूल उपायोंका अवलम्बन करता है और विघ्नोंको हटाने-मिटानेका प्रयास करता है; पर वह इस बातको नहीं जानता कि वास्तविक स्थायी और नित्य आत्यन्तिक आनन्द कहाँ है। वह अपनी विषयासक्त सीमित बुद्धिसे इस जगत्‌में धन, ऐश्वर्य, कीर्ति, सम्मान, पुत्र, स्त्री, पूजा, पद और अधिकार आदिमें ही सौन्दर्य तथा आनन्द है—ऐसा दृढ़ विश्वास कर बैठा है, अतएव इन्हींके अर्जन, रक्षण तथा संवर्धनमें लगा है।

याद रक्खो—जो वस्तु अपूर्ण है, नाश होनेवाली है, जो मृत्युके अधीन है, वह कभी न तो वस्तुतः सुन्दर होती है और न आनन्द देनेवाली ही। वह तो सदा ही असुन्दर और दुःखरूप है।

याद रक्खो—पता नहीं, किस अनादि कालसे यह जीव भगवद्विमुख होकर—अपने आत्मस्वरूपको भूलकर माया-मोहमें फँस रहा है और अनित्य तथा दुःखपूर्ण दुःखयोनि संसारके प्राणि-पदार्थ-परिस्थितियोंको प्राप्त करके आनन्द-लाभ करनेके लिये प्रयत्नशील है। यह जो आत्म-स्वरूपकी विस्मृति है, यही क्षणभङ्गुर शरीर और नाममें अहंबुद्धि—अर्थात् यह मैं हूँ, और शरीर तथा शरीर-सम्बन्धी वस्तुओंमें ममत्व-बुद्धि अर्थात् ये मेरे हैं—ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न करती और बढ़ाती है। इसी कारण मनुष्य शरीरकी स्वस्थतामें अपनेको स्वस्थ, कृशता या स्थूलतामें अपनेको कृश या स्थूल, शरीरके नाशमें अपना नाश मानता है और इसी कारण यह शरीर और नामके सम्बन्धी स्त्री, पति, पुत्र, घर, धन, पद, अधिकार, मान आदिके नाशमें मेरी वस्तुओंका नाश और इनकी प्राप्ति तथा रक्षामें मेरी वस्तुओंकी प्राप्ति तथा रक्षा मानता है।

याद रक्खो—इस प्रकार शरीर एवं नामको 'मैं' और इनके सम्बन्धी अनुकूल प्राणी-पदार्थों तथा परिस्थितियोंको 'मेरा' माननेवाला मनुष्य सदा ही चोट-पर-चोट खाता रहता है, वह सदा ही आनन्दके बदले घोर दुःख, शान्तिके बदले अशान्ति, अमरताके बदले नित्य-मृत्यु और तृप्तिके बदले सदा अतृप्ति प्राप्त करता है।

याद रक्खो—ऐसा मनुष्य जीवनभर चिन्ताग्रस्त और भ्रमित अशान्तचित्त रहता है। कभी किसी अवस्थामें वह निश्चिन्त और सुस्थिर शान्तचित्त नहीं रह सकता। साथ ही भोगकामनाकी पूर्तिके लिये भोगासक्तिवश नये-नये पाप करता है, लोगोंसे द्वेष-द्रोह करता है, क्रोध-हिंसा करता है, छल-कपट करता है, असत्य और अन्यायका आश्रय लेता है और मरते क्षणतक दुखी रहता हुआ पापोंका संग्रह करके मृत्युका ग्रास बन जाता है।

याद रक्खो—इस प्रकार जिसकी पाप-चिन्तामयी मृत्यु होती है, वह मृत्युके पश्चात् बहुत बड़ी कड़ी यमयन्त्रणा भोगता है, बार-बार अधम आसुरी योनियोंमें जाता है और वहाँ भाँति-भाँतिके संतापकी आगमें जलता रहता है।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवनका यह ध्येय तो है ही नहीं; वरं उसके असली ध्येयका भगवत्प्राप्ति या आत्मस्वरूप-स्थितिका बाधक है। अतएव इस परिणाम-को प्राप्त करानेवाले अहं-ममजनित पापकर्मोंका परित्याग करके नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ उन साधनोंका आश्रय ग्रहण करो जिनसे मानव-जीवनके असली ध्येयकी प्राप्ति हो। वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त करके जीव कृतकृत्य हो जाय। मानव-जन्म सफल हो जाय।

'शिव'

ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

(पुराने लेखोंसे संकलित)

अनन्त आनन्दघन परमात्मा

संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुखसे या जिससे सुख मिलनेकी आशा रहती है, उससे प्रेम करते हैं। इसलिये जो मनुष्य भगवान्‌को परम सुख-स्वरूप और एकमात्र सुखप्रद समझ लेता है, उससे बढ़कर या उसके समान आनन्दप्रद एवं आनन्दस्वरूप किसी वस्तुको भी नहीं समझता तथा उसपर जिसको पूर्ण विश्वास हो जाता है, वह पुरुष ईश्वरको छोड़ और किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। संसारमें जहाँ भी सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्माके आनन्दका आभासमात्र ही है (बृ० ४। ३। ३२)। जगत् क्षणिक, अल्प और अनित्य है। परमेश्वर अनन्त, नित्य, पूर्ण, चेतन और आनन्दघन है। इसलिये उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ किसी सांसारिक आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती। भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग आदिसे पवित्र अन्तःकरण होनेके साथ-ही-साथ उपर्युक्त प्रकारके ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश मनुष्यके हृदयाकाशमें चमकने लगता है।

भगवान्‌की दया

भगवान्‌की दया सर्वथा सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त है। सुख या दुःख, जय या पराजय—जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वरकी दयासे पूर्ण है और स्वयं ईश्वरका ही किया हुआ विधान है। उसीकी दया इस रूपमें प्रकट हुई है। मनुष्य जब इस रहस्यको जान लेता है तब उसे सुख और विजय मिलनेपर जो हर्ष प्राप्त होता है, वही हर्ष दुःख और पराजयमें भी होता है। जबतक ईश्वरके विधानमें संतोष नहीं है और सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक होता है, तबतक मनुष्यने भगवान्‌की दयाके तत्त्वको वास्तवमें समझा ही नहीं है। जब ईश्वरको कर्मोंके अनुसार फल देनेवाले न्यायकारी होनेके साथ ही परम प्रेमी, परम हितैषी, परम दयालु और परम सुहृद् समझ लिया जायगा, तब उनके किये हुए सभी विधानोंमें आनन्दका पार न रहेगा। विषयी और पामर पुरुषोंके हृदयमें तो स्त्री-पुत्र, धन-धामकी प्राप्तिमें क्षणिक आनन्द होता है, किंतु दयाके मर्मज्ञ उस पुरुषको तो पुत्रकी उत्पत्ति और नाशमें, धनके लाभ और हानिमें, शरीरकी नीरोगता और रुग्णतामें तथा अन्यान्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें, जैसे-जैसे वह भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझता जायगा, वैसे-वैसे ही नित्य-निरन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विलक्षण आनन्द, शान्ति और समताकी वृद्धि होती जायगी।

रोग और मृत्युको परम तप माननेसे तपके फल और मुक्तिकी प्राप्ति

सब जग ईश्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

सारा संसार ईश्वररूप है, जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसीके अनुरूप फल भी प्राप्त होता है। मनुष्य जब बीमार होता है तब वह बहुत ही व्याकुल हुआ करता है। उसकी व्याकुलताका प्रधान हेतु यही है कि वह उस रोगमें दुःखकी भावना करता है। वेदनाका अनुभव होना दूसरी बात है और उससे दुखी होना और बात है। यदि रोगमें दुःखकी जगह 'तप' की भावना कर ली जाय तो मनुष्य रोगजन्य दुःखसे अनायास ही बच सकता है। वह केवल दुःखसे ही नहीं बच जाता, तपकी भावनासे उसके लिये वह रोग ही तपतुल्य फल देनेवाला भी हो जाता है। इस रहस्यके समझ लेनेपर ज्वरादि

व्याधियोंमें मनुष्यको किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं होता। जैसे तपस्वी पुरुषको तप करनेमें महान् परिश्रम और अत्यन्त शारीरिक कष्ट उठाना पड़ता है, परंतु वह कष्ट उसके लिये शोकप्रद न होकर शोकनाशक और शान्तिप्रद होता है, वैसे ही रोगमें तपकी भावना करनेवाले रोगीको भी उसकी दृढ़ सद्भावनाके प्रभावसे वह रोग शोकप्रद न होकर हर्ष और शान्तिप्रद हो जाता है। भावनाके अनुसार ही फल होता है, इसलिये रोगपीड़ित मनुष्योंको उचित है कि वे रोगमें तपकी ही नहीं, बल्कि यह भावना करें, यह रोग दयामय भगवान्का दिया हुआ पुरस्काररूप 'प्रसाद' है। अतएव 'परम तप' है। यदि रोग आदिमें इस प्रकार परम तपकी भावना सुदृढ़ हो जाय तो अवश्य ही वे रोगादि परम तपके फल देनेवाले बन जाते हैं। परम तप इहलौकिक कष्टोंसे छुड़ाकर जीवको स्वर्गादिसे लेकर ब्रह्मलोकतक पहुँचा सकता है और यदि फलासक्तिको त्यागकर कर्तव्य-बुद्धिसे ऐसे परम तपका साधन किया जाय तो वह इस लोक और परलोकमें मुक्तिरूप परमा शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला बन जाता है। तपसे जैसे पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है, वैसे ही रोग-पीड़ा आदिमें परम तपकी दृढ़ भावनासे जीवके समस्त पापोंका क्षय हो जाता है और उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। जबतक मनुष्य रोगको कष्टदायक समझता है, तभीतक वह उससे द्वेष करता है, परंतु वही रोग जब तपके रूपमें—उपासनाके स्वरूपमें परिणत हो जाता है, तब वह उससे, तपःशील तपस्वीकी भाँति, न तो द्वेष करता है, न उसमें कष्ट मानता है और न उसकी निन्दा करता है। वह तो तपस्वीकी तरह उसकी प्रशंसा करता हुआ किसी भी कष्टकी किञ्चित् भी परवा न करके परम प्रसन्न रहता है। इसी अवस्थामें उसके रोगको 'परम तप' समझा जा सकता है—

अत्यन्त व्याधि-पीड़ित होनेपर जब मनुष्यके सामने मृत्युका महान् भय उपस्थित होता है, उस समय उस मृत्युमें 'परम तप' की भावना करनेसे वह भी मुक्तिका कारण बन जाती है। यद्यपि मृत्युके समय विद्वानोंको भी भय लगता है तब व्याधि-विकल विषयी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, तथापि मृत्युके समीप पहुँचे हुए व्याधि-पीड़ित मनुष्यको मुक्तिके लिये इस प्रकारकी भावना करनेका यथासाध्य प्रयत्न तो अवश्य ही करना चाहिये कि 'तपकी इच्छासे वनमें गमन करनेवाले तपस्वीको जैसे उसके मित्र-बान्धव वनके लिये विदा कर देते हैं, उसी प्रकार मृत्युके अनन्तर मुझे भी मेरे मित्र-बान्धव वनमें पहुँचा देंगे। वही मेरे लिये परम तप होगा। एवं जैसे तपस्वी वनमें जाकर पञ्चाग्नि आदिसे अपने शरीरको तपाता है वैसे ही मेरे बन्धु-बान्धव मुझे अग्निमें दग्ध करके तपायेंगे जो मेरे लिये परम तप होगा।'

(रोगकी भाँति ही) मृत्युरूप महान् कष्टको 'परम तप' समझनेवालेको शोक और मृत्युका भय नहीं होता। उसे मृत्युमें भी परम प्रसन्नता होती है। जैसे तपके लिये वनमें जानेवाले तपस्वीको वन जानेमें भय और बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्बियोंके वियोगका दुःख न होकर प्रसन्नता होती है और जैसे वनमें चले जानेके बाद पापोंके नाश तथा आत्माकी पवित्रताके लिये किये जानेवाले पञ्चाग्नि-तापमें शारीरिक कष्ट शोकप्रद न होकर उत्साह, शान्ति और आनन्दप्रद होता है, वैसे ही अपनी सुदृढ़ भावनासे मृत्युको 'परम तप' के रूपमें परिणत कर देनेवाले पुरुषको भी मृत्युका भय और शोक नहीं होता। ऐसी अवस्था होनेपर ही समझना चाहिये कि उसका मृत्युको परम तपके रूपमें समझना यथार्थ है।

श्रुति कहती है—

'एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद। एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद। एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद।'

(बृह० ५ । ११ । १)

'ज्वरादि व्याधियोंसे पीड़ित रोगी जो उस व्याधिसे तपायमान होता है, उस कष्टको ऐसा समझे कि यह 'परम तप' है। इस प्रकार उस व्याधिकी निन्दा न करके और उससे दुःखित न होकर उसे 'परम तप' माननेवाले विवेकी पुरुषका वह रोगरूप तप कर्मोंका नाश करनेवाला होता है और उस विज्ञानसे उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समीप पहुँचा हुआ मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेसे पूर्व इस तरह चिन्तन करे कि मरनेके अनन्तर मुझे अन्त्येष्टिके लिये लोग जो ग्रामसे बाहर वनमें ले जायँगे, वह मेरे लिये परम तप होगा (क्योंकि ग्रामसे वनमें जाना 'परम तप' है, वह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है वह परम लोकको जीत लेता है। मेरे शरीरको वनमें ले जाकर लोग उसे अग्निमें जलायेंगे वह भी मेरे लिये परम तप होगा (क्योंकि अग्निसे शरीर तपाना परम तप है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।'

वाणी और भक्ति

(लेखक—संत श्रीविनोबा भावे)

मनुष्य वाणी अच्छी रखनेको सीखेगा तो बड़ा लाभ होगा। मनुष्यको खुदको होगा और समाजको भी होगा। तुकाराम महाराज कहते हैं—

'एकाचीं उत्तरे। गोड अमृत मधुरें। एकाची वचनें। कडू अत्यन्त तीक्ष्णें। ऐशा देवाच्या विभूती—'

भगवान्‌ने विभूतियाँ निर्माण कीं। कुछ ऐसी विभूतियाँ निर्माण कीं, जिनकी वाणी मृदु, अमृत-मधुर; तो कुछ ऐसी जिनकी वाणी अत्यन्त कटु, कठोर। सब ईश्वरकी ही विभूतियाँ हैं; परंतु मनुष्यको तो वाणीका सदुपयोग करना ही सीखना है।

जीभ देहली द्वार

वाणी बहुत बड़ी वस्तु है। तुलसीरामायणमें उसका वर्णन है—'जीह देहरी द्वार—' जिह्वा देहली है। देहलीपर दीया रक्खा जाये, तो क्या होगा? अंदर और बाहर दोनों तरफ प्रकाश होगा। वैसे ही मनुष्यकी जिह्वा है। बाहरकी सृष्टि और अंदरका चित्त दोनोंको जोड़नेवाली वाणी है। वहाँ अगर राम-नाम रख दिया तो—भीतर-बाहर उजियार—अंदर-बाहर उजाला होगा। हमारे लिये वाणी—देहली द्वार—है। वहाँ रामनामकी लाल बत्ती रख दी, तो चित्त-से-चित्त जुड़ जायेगा। दो मनुष्योंको जोड़नेका काम वाणी कर सकती है और तोड़नेका काम भी कर सकती है। इसलिये वाणीका उत्तम, सम्यक्, ठीक उपयोग करना सीखना चाहिये।

वाणीके उत्तम, सम्यक् उपयोगकी शिक्षाकी योजना अभी शिक्षणशास्त्रमें होनी चाहिये। भगवान्‌ने हर एकके पेटमें भूख रक्खी है, तो दूसरोंपर हमारा भार न पड़े इसलिये हाथसे काम सीखना आवश्यक है। लेकिन यह तो बाहरका कार्यक्रम हुआ। अंदरका कार्यक्रम क्या है? वाणी सुधारना। वाणी सुधारनेसे सब सुधरता है। तुकारामजी महाराजने कह दिया—

नसे तरी मनीं नसो। परी वाचे तरी वसों—

मनमें न हो तो हरकत नहीं, लेकिन वाणीमें होने दो—फिर वाणीसे मनमें जायेगा और उसका परिणाम होगा, इसलिये सबसे महत्त्वकी वस्तु है वाणी ।

भक्तिपूर्वक गाते रहो

वाणी सत्यसे पवित्र हो, मधुर हो ।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्—सत्य बोलें, प्रिय बोलें । **न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**—अप्रिय सत्य न बोलें । **प्रियं च नानृतं ब्रूयात्**—प्रिय असत्य न बोलें । **एष धर्मः सनातनः** । इसलिये सत्य और प्रेम दोनों इकट्ठे सधने चाहिये । लड़कियाँ लड़कोंकी अपेक्षा कम झगड़ती हैं । झगड़ेंगी तो वाणीका अधिक उपयोग करेंगी, लड़के हाथका उपयोग ज्यादा करेंगे । संस्कृतमें वाणी स्त्रीलिङ्ग है और हस्त पुंल्लिङ्ग है । कल्पना ऐसी दीखती है कि स्त्रियोंकी वाणी चले और पुरुषोंका हाथ चले । इसलिये स्त्रियोंको वाणीका उत्तम शिक्षण मिलना चाहिये। उत्तम मधुर संगीत आना चाहिये । सूरदास, तुलसीदास, नामदेव, तुकाराम आदिके भजन कण्ठस्थ होने चाहिये। उनकी धुन लगनी चाहिये । रात-दिन मुखमें भजन हो । धुन होती है, तो मनुष्य उसीमें रमता है । संगीत-शास्त्रके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं । लेकिन भावपूर्वक, भक्तिपूर्वक भजनका अर्थ ध्यानमें लेकर उसमें तन्मय हो जायें । मीराबाई उत्तम गाती थी । उसको किसीने संगीत सिखाया नहीं था । वह प्रेम-भक्तिसे गाती थी । ऐसा गाना मैंने तो बिल्कुल बचपनसे सुना है । ऐसा गाना सुननेको मिलना एक भाग्य है ।

हमारी माँ जो गाने गाती थी, वे सब भगवान्‌के गाने होते थे । अत्यन्त प्रेमसे और भक्तिसे गाती थी । मुझे याद है, उसकी आवाज बहुत मधुर थी । परंतु उसकी विशेषता यह थी कि वह बिल्कुल तन्मय होकर गाती थी ।

नामा गहिवरें दाटला । पूर धरणीये लोटला—

नामदेव गद्गद हो गया कीर्तन करते-करते और आँसुओंकी बाढ़ भूमिपर बहने लगी । हमारी माँ संसारमें थी, लेकिन उसके चित्तमें, उसकी वाणीमें संसार नहीं था । उसके मुखसे कभी कटु शब्द सुना नहीं । भगवान्‌की मूर्तिके सम्मुख जब बैठकर गाने लगती थी, तब उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती थी । मैं कहता यह था कि स्त्रियोंके शिक्षणमें मैं ज्ञानसे भी भक्तिको महत्त्व देता हूँ । ज्ञान भी चाहिये लेकिन भक्ति मुख्य चीज है और आज दुनिया-को ज्ञानसे भी भक्तिकी ज्यादा आवश्यकता है । (मैत्री)

कैसे वचन बोलें ?

दुःख-अहित-उद्वेगकर, कटु, मिथ्या, निस्सार ।
अपमान-प्रद, हो सहज जिनसे वैर-प्रसार ॥
ऐसे वचन न बोलिये कभी कहीं भी भूल ।
जिनके सुनते ही चुभे कठिन हृदयमें शूल ॥
सत्य मधुर हितकर वचन वाणीका शृङ्गार ।
सुनते ही हो हृदयमें जिनसे सुख-संचार ॥
मङ्गल वचन उचारिये विनय भरे, सत्-सार ।
जिनसे हित-सुख-प्रेमका हो सबमें विस्तार ॥

मनन-माला

(लेखक—ब्र० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्क-पृष्ठ ९०१ से आगे]

१४. शरीरमें तीन भाग हैं—शरीर, चित्त और आत्मा। चित्त इच्छा करता है शरीरके लिये, अपने लिये और आत्माके लिये। तथापि नाम लेता है आत्माका। जैसे मन्दिरमें स्थित भगवान्‌की मूर्ति न कुछ खाती है, न पीती है तथापि पुजारी कहते हैं कि भगवान् भूखे हैं, भगवान्‌को भोग लगाना है। वह सारा खान-पान मूर्तिके आगे रखकर फिर ले लेता है और स्वयं उपयोग करता है। इसी प्रकार इस शरीरमें आत्मा भगवान्‌की मूर्तिरूप है और चित्त मुख्य पुजारी है तथा शरीर मन्दिर है। आत्मा कुछ खाता-पीता नहीं, कुछ भोगता नहीं। मन्दिरकी अचल मूर्तिके समान विराजता है। उसका नाम लेकर चित्त सारे भोगोंकी इच्छा करता है, सम्पादन करता है और भोगता है। आत्मा नित्यमुक्त और अविनाशी तथा अविकारी है तथापि चित्त आत्माका नाम लेकर कहता है कि आत्मा बद्ध है। चित्तमें तीन प्रकारकी इच्छाएँ उठती हैं—(१) शरीर-पोषणकी, (२) मौज उड़ानेकी तथा (३) मुक्तिकी। शरीर-पोषण तो प्रारब्धानुसार होगा, इसके लिये चित्तको बारंबार समझावे कि इसकी चिन्ता छोड़ दे। आत्मा तो नित्यमुक्त है, यह उसे समझाकर मुक्तिकी चिन्ता छोड़े और मौज मानका त्याग करे। चित्तको भोगोंमें रमण करनेसे सदा रोके, अर्थात् भोगकी चिन्ताका त्याग करे और सदा आनन्दमें रहे। चित्तमें आत्माको रमण करावे, आत्माकी रट लगावे। जगत्‌में वस्तुतः चिन्तनका कोई विषय नहीं है तथापि चित्त व्यर्थ ही चिन्तासे व्याकुल रहता है। जबतक चिन्ता रहती है तबतक चित्तको चैन नहीं मिलता और आत्मानन्दका अनुभव नहीं होता। अतएव अनेक युक्तिसे चित्तको समझाकर चिन्ता-मुक्त करे। चिन्तासे क्लेश उठानेसे कोई सुख या सच्चा फल नहीं होता। इसलिये इस निरर्थक और दुःखदायी चिन्ताके क्लेशको त्यागनेके लिये ही शास्त्र कहते हैं। कर्म करनेका शास्त्र निषेध नहीं करते। चिन्ता, व्याकुलता और क्लेश—जिनका दुःखके सिवा और कोई परिणाम नहीं है, इनको त्याग देनेका उपदेश संत और शास्त्र करते हैं। जब कोई प्रसङ्ग पड़े तो मनसे पूछो कि इसका क्या उपाय है ? जैसे अपना जवान पुत्र मर जाय तो चित्तमें क्लेश होता है, उस समय चित्तसे पूछना चाहिये कि इस मृत पुत्रको जिलानेका कोई उपाय है ? क्या रोने-कलपनेसे वह जी जायगा ? तब वह कहेगा कि नहीं। तो जिस क्रियाका दुःखके सिवा दूसरा फल नहीं होता, उस क्रियाको न करे। इस दृष्टान्तद्वारा जीवनके दूसरे प्रसङ्गोंको भी समझे। उद्यम करने, पुरुषार्थ और प्रयत्न करनेकी मनाही नहीं है। परंतु चित्तको ऐसा अभ्यास करावे, जिससे वह क्लेश, व्याकुलता और उद्वेगमें न पड़े। जिसका चित्त सदा शान्त रहता है वह सदा मुक्त है। जिसका चित्त अशान्त है वह सदा बद्ध है। अतएव जिस प्रकार चित्त सदा शान्त रहे, इसका अभ्यास करता रहे।

१५. और कुछ लोग जो कहते हैं कि कुछ भी न करे, बिल्कुल क्रियाहीन होकर बैठा रहे। यह ठीक नहीं, कोई भी आदमी क्षणमात्र भी क्रिया बिना नहीं बैठ सकता। केवल सुषुप्ति और समाधिमें शरीर और चित्त क्रियाहीन रहते हैं। शेष शरीरकी प्रकृतिके अनुसार शरीरको कर्म करना ही पड़ता है। वह रोकनेसे नहीं रुकता। स्थूल शरीरको हठपूर्वक चेष्टारहित रख सको तो मन अपना चर्खा चलाये बिना नहीं रहता और यदि मन संकल्प-विकल्प-रहित हो जाय, तो सदा आनन्द ही रहे। बहुत मेहनत करनेपर मनको संकल्परहित किया जाता है। जबसे शरीरने जन्म लिया है तबसे वह एक प्रकारकी प्रकृति लेकर उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकृतिके परमाणुसे वह बना है और जो संस्कार उसमें हैं, उसके अनुसार उसे क्रिया करनी ही है। जो क्रिया करता है, उसका फल भोगता है, तदनुसार जन्म-मरण चला ही करता है। इसका उपाय यह है कि क्रिया तो चित्तके साथ शरीर और इन्द्रियाँ करती हैं और मैं कहनेवाला आत्मा तो सबका असङ्ग साक्षी है। जो कर्म करता है, वह फल भोगता है। मुझ आत्मामें कर्तापन नहीं है और भोक्तापन भी नहीं है, इस प्रकार अभ्यास करके मैं असङ्ग आत्मा अकर्ता और अभोक्ता हूँ, यह ज्ञान सदा जाग्रत् रखकर शरीरसे कर्म करता रहे। इसके लिये नाटकके पात्रोंका दृष्टान्त लो। नाटकमें अभिनेता स्त्रीका पार्ट लेता है, फिर राजा हो जाता है, यह सब पार्ट करनेवाले अभिनेताका उस पार्टके साथ जैसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसी प्रकार आत्माका शरीरके पार्टके

साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। राजाका अभिनय करनेवाले पात्रको उस पार्टसे कोई लाभ नहीं और भिखारीका पात्र बननेवालेको कोई सच्चा दुःख नहीं होता। इसी प्रकार आत्माने शरीर धारण किया है, इस कारण उसका अभिनय करते हुए अपनेको उस शरीरसे असङ्ग समझे। आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं, बूढ़ा नहीं होता। जो कुछ होता है वह सब शरीरको होता है। यह आत्मज्ञान लोकको ठगनेके लिये नहीं है और एक बार बाँचने या सुननेसे यह हो भी नहीं जाता। यदि चित्त एक क्षण भी आत्मचिन्तन बिना रहे तो वह चित्त अनर्थ करता है। इसलिये यह अभ्यास करनेवाला साधक ध्यानपूर्वक चित्तको आत्मचिन्तनमें लगाये रक्खे और शरीरसे निज धर्मरूप कर्मोंको करता हुआ सदा चित्तको आत्मचिन्तनमें रक्खे। आत्मचिन्तनमें साधक जितना प्रमाद करेगा, उतना ही उसका पतन होगा। ऐसा कभी न समझे कि 'मैं तो आत्मज्ञानी हो गया, मैं जो करता हूँ उससे मेरा सरोकार नहीं।' ऐसा सोचनेवालेको आत्मज्ञान हुआ ही नहीं होता। यह तो भावी अनर्थका सन्निपात होता है। आत्मज्ञानीसे कभी पाप होता ही नहीं। उसकी सारी क्रियाएँ शान्त और पुण्यमय, सुख-शान्ति प्रदान करनेवाली होती हैं। इसलिये मनको शान्त रखकर मनसे आत्मचिन्तन करते हुए शरीरसे प्रकृतिके अनुसार कर्तव्य समझकर कर्म करता रहे।

१६. चित्तको शान्त रखनेकी खास जरूरत है। शान्त चित्त ही मुक्तिका सच्चा साधन है। जैसे हमें नहीं बोलना होता है तो मौन रहते हैं और तदनुसार समय-विशेषमें मौन बैठे रहते हैं। उसी प्रकार एकान्तमें बैठकर चित्तको संकल्परहित करनेकी आदत डालनी चाहिये। प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी देरतक यह अभ्यास करे। इस प्रकार बैठनेके पहले चित्तको पूछे कि उसको कुछ विचार करना है तो कहे और कर ले। विचार हो तो कर ले। फिर कहे कि अब इतने समयतक बिना कोई विचार किये बैठना है। इसलिये शान्तिसे बैठो। जैसे किसी दूसरेको कहा जाता है, वैसे चित्तको कहकर चित्तके ऊपर लक्ष्य रखकर शरीरको हिलाये-डुलाये बिना शान्त बैठ रहे। फिर भी चित्त कोई विचार खड़ा कर दे, तो कहे कि हिलो-डुलो मत। विचारको बंद करो और शान्त बैठे रहो। इस अभ्यासको धीरे-धीरे बढ़ावे और इसे विक्षेपरहित एकान्त स्थानमें करे। इस अभ्याससे थोड़े ही दिनोंमें पूर्ण शान्ति आ जायगी।

१७. स्थावर-जङ्गम सब प्राणियोंमें आत्मा है। देव-दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके भी शरीरमें आत्मा है। आत्माके होनेसे ही शरीर सब क्रिया कर सकता है। आत्मा सब शरीरोंमें एक-सा है। आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष नहीं है, नपुंसक नहीं है। इसकी न कोई जाति है न कोई धर्म है। आत्मा न छोटा है न बड़ा है, इसका कोई रूप-रंग नहीं है। आत्मा निराकार, निर्विकार, अजर, अमर और अनन्त है। सदा एकरस रहता है। शरीर अनेक हैं, परंतु आत्मा सब शरीरोंमें एक ही है, यह बात तुरंत समझमें नहीं आती। कुछ सम्प्रदायवाले आत्माको अनेक मानते हैं। आत्मा जन्म-मरण, विकार और विनाशसे रहित है, इतनी बात तो समझमें आती है न? तथा वह आत्मा शरीरसे पृथक् मैं ही हूँ, इन दोनों बातोंको निश्चय कर रक्खो। यदि किसी सम्प्रदायका आग्रह हो तो उसे मनसे निकाल डालो और अपनी बुद्धिसे विचार करके आत्माके स्वरूपका निर्णय करो। 'जन्म, जरा, मृत्यु और विकारसे रहित आत्मा असङ्ग है और वह आत्मा मैं हूँ।' इतना निश्चय हो जानेके बाद, वह आत्मा सब शरीरोंमें एक है, अनेक नहीं—इसको अभ्यासद्वारा समझे, अभ्यासमें कोई उतावली न करे। आत्माके जिस स्वरूपका निश्चय हो, तदनुरूप वासनाका त्याग करता जाय। इच्छारहित होता जाय और जिस किसीके साथ कभी विवाद न करे। अपनी आत्मा कैसी है? जिसकी बुद्धिमें जैसा निश्चय हो वही आत्मा है। जन्म, जरा, मरण, विकार और विनाशसे रहित मैं असङ्ग आत्मा हूँ—यह चिन्तन और मनन बारंबार करता रहे।

१८. सबमें आत्मा है, यह जानकर अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्राणीमात्रकी सेवा करे। इस सेवाके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होगा। प्राणीमात्रको दुःख न हो, ऐसा बर्ताव करे और जिस प्रकार सुख हो, वैसा करे।

१९. मैं आत्मा हूँ और सबमें आत्मा समानरूपसे रहता है, यह कहना सहज है, परंतु आचरणमें लाना कठिन है। पहले तो यह बुद्धिमें बैठना कठिन है। बुद्धिमें इसको स्थिर

करनेके लिये पहले बुद्धि शुद्ध और निर्मल होनी चाहिये। जिस प्रकार साफ वस्त्रपर रङ्ग ठीक-ठीक चढ़ता है, उसी प्रकार शुद्ध चित्तमें ही आत्माका ज्ञान स्थिर होता है। चित्तशुद्धिके लिये सदाचार, स्वधर्माचरण, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अहिंसा, सत्सङ्ग और विचार तथा विवेककी आवश्यकता है। जगत्में चेतन वस्तु एक है। उसको चाहे आत्मा कहो, परमात्मा कहो, ईश्वर कहो या जैसा जँचे, वैसा कहो। सबके शरीरमें रहनेसे वह आत्मा कहलाता है। बड़े-से-बड़े देवता, बड़े-से-बड़े दानव, बड़े-से-बड़े मानव तथा छोटे-से-छोटे देव-दानव-मानव सभीके एवं पशु-पक्षी आदि जीवोंके—सभीके पृथक्-पृथक् शरीरोंमें एक ही आत्मा है। सबका शरीर उसमें रहनेवाले आत्माके सामीप्यसे ही क्रिया कर सकता है और जिस शरीरमें जो शक्तियाँ काम करती हैं, वे आत्मासे प्राप्त हुई होती हैं। आत्मा कुछ करता नहीं, कुछ भोगता नहीं, तटस्थ रहकर देखा करता है। शरीरसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंको समझना चाहिये। मैं यह शरीर नहीं बल्कि आत्मा हूँ, यह चित्तको समझाना कठिन है, सहज नहीं। इसके लिये बहुत प्रयत्नकी आवश्यकता है। अब यह विचारना है कि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये?

२०—ज्ञान तो ज्ञानीके पास ही मिलता है। ज्ञानी वे हैं जिन्हें आत्माका साक्षात्कार हुआ हो, जो ब्रह्मनिष्ठ हों। उनकी सेवा करनेसे, उनसे विनय-विवेकयुक्त प्रश्न करनेसे वे दयालु, ज्ञानी महात्मा सेवासे प्रसन्न होकर ज्ञान देते हैं; ऐसे ज्ञानी सहज ही नहीं मिलते। पुस्तक बाँचनेसे, व्याख्यान या आख्यान सुनानेसे ज्ञान नहीं होता। यह सब चित्तशुद्धिके लिये आवश्यक है, परंतु ज्ञान तो ब्रह्मनिष्ठ संतसे ही मिलता है। ऐसे संत जबतक न मिलें, तबतक परमात्माके नामका जप करे, सदाचारका पालन करे और उद्यम करे।

२१—आत्माका कोई आकार नहीं है। आत्मा कहो या परमात्मा कहो। चेतन आत्मा एक, अखण्ड, व्यापक और निराकार है। तथापि भक्तोंकी प्रार्थनासे साकार दिव्य देह धारण करते हैं, ऐसे सगुण, साकार परमात्माकी किसी भी मूर्तिकी उपासनासे तथा उसके नामका जप करनेसे चित्तशुद्धि जल्दी होती है। शिव, विष्णु आदि देवता सभी भगवत्स्वरूप माने जाते हैं। वे उपासकको भोग और मोक्ष—दोनों प्रदान करनेमें समर्थ हैं। इसलिये जिस देवतामें श्रद्धा हो, उस देवताका जप करे तथा उसकी भक्ति करे। गृहस्थाश्रमीके लिये यह मार्ग बहुत सहज है। भोगकी इच्छामात्रका त्याग साधकको तुरंत हो जाय, यह बहुत कठिन है। मनमें अनेक इच्छाएँ होती हैं, जीवनमें अनेक विपत्तियाँ आती हैं। साधक निष्ठापूर्वक जिस देवकी चाहे, आराधना करे। सब देवताओंके शरीर पृथक् हैं, परंतु अंदर एक ही आत्मा है। देवताओंमें छोटाई-बड़ाई नहीं होती; अतएव एक देवताको निश्चय करके अचल श्रद्धासे जप और ध्यान करे। जितनी ही अधिक श्रद्धा होगी, उतना ही शीघ्र फल प्राप्त होगा। आराधना करते समय भोगकी इच्छा न करे तो यह श्रेष्ठ है। फिर भी सुखकी प्राप्तिके लिये या दुःखकी निवृत्तिके लिये इच्छा हो तो भी उसी अपने इष्ट-देवसे प्रार्थना करे और भगवान्से कहे कि 'हे प्रभो! मेरे मनको भोगोंसे हटाकर अपनेमें लीन करो और मुझको मुक्तिका मार्ग दिखाओ।' प्रार्थनामें बहुत बल है। जो कुछ कष्ट हो सो अपने इष्टदेवसे कहे। साथ ही मनको समझाये कि मुक्तिदाता भगवान्की उपासना करके भोग माँगना मूर्खता है। इस प्रकार मनको रोकता रहे और इष्टदेवकी आराधना करता रहे। सदाचार तो होना ही चाहिये। ऐसा करनेसे इष्टदेव सारी सुविधा कर देंगे। अथवा प्रकट होकर ज्ञान प्रदान करेंगे या संत-साधुको प्रेरित करके उनसे भेंट कराकर उनके द्वारा ज्ञान प्रदान करेंगे, या स्वप्नमें आकर ज्ञान देंगे। बिना किसी कामनाके, केवल मुक्तिके लिये उपासना करनेसे जल्दी फल प्राप्त होता है, चित्त निर्मल होता है या ज्ञानकी प्राप्ति होती है। चित्त निष्काम भक्तिसे निर्मल होता है। अतएव चित्तमें जिस देवके प्रति श्रद्धा हो, उस देवताकी निष्काम भक्ति करे। देवताओंके शरीर पृथक्-पृथक् हैं, परंतु चाहे कोई भी देवता हो, आत्मा तो उसमें एक ही है और उस आत्माकी सत्तासे ही सारे शरीर अनेक प्रकारके कर्म करते हैं। (क्रमशः)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

(लेखक—श्रीम० त्रि० भट्ट)

मनुष्यकी सृष्टि करके प्रभुने कलाकी सीमा दिखला दी है। मनुष्यके शरीरमें उन्होंने कैसी-कैसी अद्भुत वस्तुएँ डाल दी हैं ! मन, बुद्धि, हृदय, मस्तिष्क, समझनेकी शक्ति—ये सारी सामग्रियाँ मनुष्यके शरीरमें इकट्ठी कर दी हैं। इन्द्रिय-शक्ति भी जितनी मनुष्यमें है, उतनी और किसी प्राणीमें नहीं है। अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यके शरीरमें अनेक विशेषताएँ हैं। मनुष्य ही सृष्टिमें ईश्वरकी अति प्रिय वस्तु है। अतएव अनुभवी संतोंका कहना है कि मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर नरसे 'नारायण' अथवा जीवसे 'शिव' बन सकता है। जीव तो शिवरूप है ही। केवल अविद्याके कारण इसका शिवभाव लुप्त हो गया है और वह जीव-भावकी प्रधानता भोग रहा है। बकरोंके झुंडमें पाला-पोसा गया सिंहशावक अपनेको बकरा ही मानता है, इसी प्रकार शिवरूप जीव संसारकी मायामें पड़कर अपने सच्चे स्वरूपको भूलकर मायाके राज्यमें भूला-भटका फिरता है और अपने शिव-स्वरूपको भूल गया है।

एक शिष्यने गुरुसे पूछा कि 'महाराज ! जीव स्वयं ईश्वर है, इसका प्रमाण क्या है ? जीव तो सामान्य है और ईश्वर महान् है। जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है, फिर यह कैसे कह सकते हैं कि दोनों एक ही हैं ?'

गुरु महाराज बोले कि 'यह मैं तुमको समझाता हूँ। परंतु अभी तुम इस कमण्डलुमें मेरे लिये गङ्गाजल ले आओ।' शिष्य कमण्डलुमें गङ्गाजल भरकर लाया। तब गुरुने कहा—'बचा ! यह गङ्गाजल नहीं है। मैंने तो तुम्हें गङ्गाजल लानेके लिये कहा था।' शिष्यने कहा—'महाराज ! यह गङ्गाजल ही है। मैं अभी गङ्गाजीसे भरकर लाया हूँ।' गुरुने कहा—'यदि यह गङ्गाजल है तो गङ्गाजी-जैसी धारा इसमें नहीं है, गङ्गाजीमें लोग नहाते हैं, इसमें नहाते नहीं दीखते। गङ्गाजीमें नौकाएँ चलती हैं, इसमें कोई नौका चलती नहीं दीखती। गङ्गाजीमें मगर, मछली आदि जलचर प्राणी विहार करते हैं, वैसे जलचर इसमें नहीं दीखते। इसलिये यह गङ्गाजल नहीं है।' शिष्यने कहा—'महाराज ! गङ्गाका पात्र बहुत विशाल है, इसी कारण उसमें ये सब रहते हैं, यह कमण्डलु तो नन्हा-सा पात्र है, इसमें ये सब कैसे रहेंगे ? परंतु गङ्गाजीमें जो जल है, वही जल यह भी है।' गुरुने कहा—'बचा ! इसी प्रकार ईश्वर विराट् है और सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है; और जीव नन्हे पात्रमें है, इसलिये मर्यादित है, सीमित है। परंतु वस्तुतः यह ईश्वर ही है। यदि जीवको अपने शुद्ध स्वरूपका भान होता तो वह ईश्वर ही था, ऐसी प्रतीति होती है। अग्निमेंसे निकली चिनगारी अग्निरूप ही है। उसी प्रकार ईश्वरसे निकला अंश, अग्निकी चिनगारीकी भाँति ईश्वर ही है। अन्तर इतना ही है कि ईश्वर महान् है और जीव अल्प है। परंतु अविद्याके आवरणके कारण जीव पामर बन गया है। अविद्याका आवरण दूर होनेपर इसको अपने स्वरूपका भान होता है। पानीके ऊपर जमी काईको दूर हटानेसे पानी मिलता है, उसी प्रकार आवरणको दूर कर दें तो ईश्वरका दर्शन हो सकता है। इस अविद्याको दूर करनेके लिये अनन्त ज्ञानियों और महर्षियोंने अनेकानेक उपाय बतलाये हैं, उनमें मनोनिग्रहके ऊपर सबसे अधिक जोर दिया गया है।

पञ्चमहाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशके ऊपर ईश्वरकी सत्ता है। तथापि हम आज देख रहे हैं कि वैज्ञानिकोंने इन पाँचोंके ऊपर अपनी प्रभुता जमा रक्खी है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस जीवमें ईश्वरी शक्ति है। परंतु जीव स्वयं अपनेको अल्पज्ञ, शक्तिहीन और पामर मानकर निष्क्रिय बना रहता है।

जो पुत्र पिताको अपने समान या अपनेसे सवाया दीखता है, वह अधिक प्रिय होता है। उसी प्रकार ईश्वरको भी अपने-जैसा शक्तिशाली पुत्र, अर्थात् पुरुषविशेष प्रिय होता है और उसीके ऊपर प्रभुकी कृपा अवतरित होती है।

मनुष्यको कसौटीपर कसनेके लिये ईश्वरने जगत्‌में अनेक प्रलोभन डाल रक्खे हैं। इन प्रलोभनोंको दूर हटाकर यदि मनुष्य अपने ध्येयपर डटा रहे तो वह परमपदको पा सकता है। परंतु अधिकांश मनुष्य मान बैठे हैं कि इस संसारमें आकर मनुष्यको सिर्फ खाना, पीना और मौज उड़ाना है। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। यदि मनुष्य-जन्मका यही हेतु हो तो, यह तो सभी पशु-पक्षी और

जीव-जन्तुओंमें भी है। फिर मनुष्यजन्मकी महत्ता क्या है? परंतु चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते मोक्षके द्वार-स्वरूप आर्यदेश और सब सामग्रीकी सुलभताके साथ मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। इसमें अवश्य कोई हेतु निहित है। परंतु इस अमोघ मानव-जन्मको आज मनुष्य व्यर्थ नष्ट कर रहा है। ईश्वरके द्वारा इसके लिये नियोजित मर्यादाका इसने यथेच्छ उल्लङ्घन किया है। यदि मर्यादामें रहकर गन्तव्य स्थानकी प्राप्तिका प्रयत्न नहीं करता तो उसे अपने ध्येयकी प्राप्ति नहीं हो सकती। नदी यदि अपने करारारूपी मर्यादाको तोड़कर स्वेच्छा विहार करे तो कितने ही गाँवोंको मटियामेट कर दे, खेती-बारी बर्बाद कर दे, इतना ही नहीं, इसके साथ ही वह अपने प्रियतम सागरकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाय। अतएव इस मर्यादाके पालनमें यत्नशील रहकर वह अपने गन्तव्य स्थानमें सुखपूर्वक पहुँच जाती है। यही स्थिति मनुष्यकी है। मनुष्य ईश्वरको पानेके लिये शास्त्र-निर्दिष्ट मर्यादाका यथार्थ पालन करके नियत पथमें चलकर प्रभुतक पहुँच सकता है, भव-भ्रमणको निवारण करके अगाध अविनाशी सुख-सिन्धुमें निमज्जित होकर तदाकार हो सकता है। परंतु अविद्या और मोहके कारण शास्त्र और सत्पुरुषोंके द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा इसे नहीं दीखती। संसारका क्षणभङ्गुर भोग-सुख इसे बहुत प्रिय लग रहा है, संसारके प्रलोभनोंमें यह डूबा हुआ है। इसका मुख्य कारण इसका बहिर्मुख मन है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

संसारका बन्धन, भवाटवीका भ्रमण भी मनके ही द्वारा होता है तथा परमपदकी प्राप्ति, मोक्ष-लाभ भी मनके द्वारा ही होता है। इसलिये मन ही इसमें कारणभूत है। ऐसा शास्त्र कहते हैं। मनुष्यके बन्ध और मोक्षका कारण मन है। इस मनको सुसंस्कृत बनाया जाय तो यह मोक्ष अर्थात् परम शाश्वत सुख प्रदान करता है और यदि यह कुसंस्कार-युक्त रहे तो इस भवसागरके दुःखदायी भँवरमें, जन्म-मृत्युके चक्करमें डाले रखता है।

हम जानते हैं कि संसारकी तृष्णाका त्याग मोक्षप्राप्तिके लिये उपयोगी साधन है। परंतु फिर भी अधिकांश मनुष्य तृष्णाके मिथ्या माधुर्यका त्याग नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे अपने मनके दास हैं। मन जैसे नचाता है वैसे नाचते हैं। हम संसारके क्षणिक और तुच्छ भोग-सुखरूपी मृगमरीचिकाके पीछे तृष्णाके वश होकर दौड़ रहे हैं। हम हृदयसे जानते, देखते और अनुभव करते हैं कि तथाकथित सांसारिक सुख नाशवान् और क्षणिक है, तथापि हम अपने मनको संसारके रागरंगोंसे हटाकर अपने ध्येयमें नहीं लगा सकते, यह हमारी लज्जाजनक दुर्बलता है। हमारी आजकी दुर्दशाका मुख्य कारण हमारा यह मन ही है। हम जिस कार्यको अपने अन्तःकरणमें बुरा समझते हैं और करना नहीं चाहते, वह कार्य भी हमारा कुसंस्कारी मन हमसे बलपूर्वक कराता है। मनुष्यके बुरा या भला बननेका कारण उसके कर्म हैं और कर्मका सबसे बड़ा आधार मन है।

कर्म दो प्रकारसे होते हैं। कुछ कर्म अकेला मन ही करता है और कुछ कर्म मन इन्द्रियोंकी सहायतासे करता है। मनन, चिन्तन, भावना और स्वाध्याय आदि कार्य अकेला मन ही कर सकता है। जब कि उठना, बैठना, जाना, आना, बोलना, देखना, सुनना, खाना-पीना इत्यादि काम इन्द्रियोंकी सहायतासे होते हैं। ऐसे कार्य इन्द्रियोंकी सहायताके बिना नहीं हो सकते। इन्द्रियाँ बहिर्मुख और जड होनेके कारण अपनी इच्छा पूरी करनेके लिये मनके पीछे-पीछे भटकती हैं। अतएव इन्द्रियाँ मनके वशवर्ती हो गयी हैं। हमारे छोटे-बड़े सब कार्योंका सूत्रधार मन है, इसी कारण शास्त्रकार और ज्ञानी महर्षियोंने मनोनिग्रहपर बड़ा जोर दिया है। इन्द्रियाँ मनरूपी राजाकी नर्तकी हैं। मनकी मर्जीसे वे नृत्य करती हैं और मनको प्रसन्न रखती हैं तथा स्वयं भी तुच्छ आनन्द प्राप्त करती हैं। वस्तुतः मनको जीते बिना इन्द्रियाँ जीती नहीं जा सकतीं।

मनको निरंकुश छोड़कर यथेच्छ विहार करने देना और केवल इन्द्रियोंपर काबू रखना वञ्चनामात्र है। जबतक मन काबूमें न हो, इन्द्रियोंपर अंकुश रखनेका प्रयत्न विशेष लाभदायक नहीं होता। सारे उपद्रवोंका मूल तो मन है। वृक्षकी डाली और पत्ते काट डालनेसे वृक्ष नष्ट नहीं होता, वह पुनः पल्लवित हो उठता है। परंतु डाली और पत्तेकी ओर न देखकर यदि केवल मूलको नष्ट कर दिया जाय तो वृक्ष स्वयं नष्ट हो जायगा। अतएव मनका निग्रह ही सच्चा निग्रह है, यही सच्चा संयम है। राजा वशमें हो जाय तो उसकी सेना अपने-आप वशमें हो जाती है, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किसी दुष्ट मनुष्यकी दुष्टताका कारण भी उसका मन होता है और किसी महापुरुषकी महानताका कारण भी उसका मन होता है। एकका मन

कुसंस्कारपूर्ण होता है और दूसरेका मन सुसंस्कृत होता है । एक तो मनका गुलाम होता है और दूसरा मनको अपने अधीन रखता है अर्थात् मन उसका गुलाम होता है ।

मनुष्यके मनमें दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं । वे मनुष्यको उन्नतिके शिखरपर भी ले जाती हैं और अवनतिके भयंकर दुःखद गर्तमें भी डाल सकती हैं ।

पारा कच्चा हो तो वह अनिष्टकारक होता है और यदि शुद्ध किया हो तो वह हितकर होता है । कच्चे पारेसे मनुष्यका जीवन नष्ट होता है और संस्कार किये हुए शुद्ध पारेको आयुर्वेदमें चमत्कारिक औषधके रूपमें वर्णन किया गया है । मनकी स्थिति भी पारा-जैसी है । संस्कारहीन मन मनुष्यके अमूल्य जीवनको नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है और सुसंस्कृत मन मनुष्यके उद्धारका कारण बनता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि मनको सुसंस्कृत कैसे बनायें ? क्या अपनेमें यह शक्ति नहीं है ?—नहीं, शक्ति तो है; परंतु उसका हम उपयोग नहीं करते । यदि कोई यह कहे कि मन तो हमारे अधीन है, फिर हम इसके गुलाम कैसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि घोड़ा अपने सवारके कब्जेमें होता है, परंतु यदि बिना लगामके सवार घोड़ेपर सवारी करे तो वह घोड़ेके अधीन हो जाता है और सुरक्षित नहीं रहता; फिर तो वह घोड़ा जहाँ ले जाता है, वहीं उसको जाना पड़ता है । यही हाल मनका है ।

एक बुढ़िया माँके मनमें एक बार विचार आया कि मैं दूसरी सब सवारियोंपर तो बैठ चुकी हूँ, घोड़ेपर भी चढ़ चुकी हूँ, पर ऊँटकी सवारी मैंने कभी नहीं की । दैवात् एक बार किसी पर्वके दिन वह बुढ़िया माँ तीर्थमें स्नान करके झोलेमें वस्त्र डालकर, हाथमें जल भरा लोटा लेकर घर लौट रही थी । रास्तेमें उसने एक पेड़के नीचे एक ऊँटको बैठे देखा और बहुत दिनका मनमें दबा हुआ विचार प्रकट हो आया । बहुत दिनोंसे ऊँटपर बैठनेका विचार कर रही हूँ तो आज क्यों न इस ऊँटपर बैठकर घर जाऊँ ? ऐसा सोचकर बुढ़िया माँ उस ऊँटपर बैठ गयी । जैसे ही बुढ़िया ऊँटपर बैठी कि वह ऊँट अपने स्वभावके अनुसार खड़ा हो गया और मनमाने रास्तेपर चल पड़ा । बुढ़िया माँ घबरायी । ऊँटको कैसे रोकूँ और कैसे इसे फिरसे बैठाऊँ ? यह बुढ़िया माँको ज्ञात न था । ऊँटके नकेल भी नहीं बँधी थी, कोई साधन भी पास न था । इसलिये बुढ़िया माँ निरुपाय थी । ऊँट जंगलकी ओर चलने लगा । रास्तेमें किसी जान-पहचानवाले एक आदमीने पूछा, 'माँजी ! कहाँ जा रही हैं ?' तब बुढ़ियाने उत्तर दिया, 'भाई ! जहाँ ऊँट ले जाय वहाँ ।'

हमारी स्थिति भी उस बुढ़िया माँके-जैसी है । हम मनके ऊपर सवार हैं; परंतु मनको लगाम नहीं है तथा इसको वशमें करनेकी कला भी हाथमें नहीं है । इसलिये हमको मन जहाँ ले जा रहा है, वहीं हम चले जा रहे हैं । अपनी इच्छा तो घर जानेकी है—परम पदको प्राप्त करनेकी है । परंतु मनरूपी ऊँटको रोकना नहीं आता । इस कारण बेकाबू मनपर सवार होकर हम लाचार हो गये हैं । मन अपने अधीन है, परंतु जन्मसे ही निरंकुश—बेलगाम होनेके कारण पूर्णतः उद्दण्ड और उन्मत्त होकर हमारे ऊपर चढ़ बैठा है । यदि हमने शुरूसे ही इसके ऊपर अंकुश रक्खा होता तो यह ऐसा प्रचण्ड स्वेच्छाचारी बनकर हमें परेशान न करता और इसका निग्रह दुःसाध्य न बन जाता ।

प्रारम्भमें ही थोड़े प्रयत्नसे जिस मनको हम परम हितकारी मित्र बना सके होते, उसीको हमने अपनी असावधानीसे ऐसा शत्रु बना लिया है । अब तो 'जब जागे तभी सबेरा' नीतिके अनुसार प्रयत्न शुरू कर देना चाहिये । शत्रु जितना बलवान् हो, उससे अधिक बलवान् बननेकी आवश्यकता है । विद्युद्गतिसे भी तीव्रगामी मनको रोकनेमें अत्यन्त बलकी आवश्यकता है । अधिक जाग्रति और लगनकी जरूरत है ।

सारी सिद्धियोंका मूल 'मनःसंयम'में है । परंतु वह केवल साधारण या नाममात्रके पुरुषार्थसे प्राप्त होनेवाला नहीं है । इसके लिये प्रबल पुरुषार्थकी तथा योग-युक्तिकी आवश्यकता है । विकराल जंगलके जीवको वशमें करनेके लिये जैसे तीव्र उपायकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनोनिग्रहके लिये भी तीव्र उपाय जरूरी है ।

मनको पहले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयोंके चिन्तनसे विरत करके शुभ चिन्तनमें लगाना चाहिये । विषयोंकी असारताका पाठ इसको देते रहना चाहिये । फिर धीरे-धीरे विषयोंसे इसमें वैराग्य उत्पन्न कराना चाहिये । संसाररूपी घोर वनमेंसे निकालकर भगवच्चिन्तन, तत्त्वविचाररूपी वृक्षके धड़में इसको दृढ़तापूर्वक बाँध देना चाहिये और बुद्धिरूपी अंकुशके द्वारा इसको वशमें करनेका

सतत प्रयत्न करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने मनोनिग्रहका उपाय 'अभ्यास' और 'वैराग्य' बतलाया है। योगेश्वर महर्षि पतञ्जलिने भी योगशास्त्रमें 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' यह सूत्र लिखा है। अभ्यासके द्वारा उद्धत मन वशमें होता है और इसीके साथ-साथ वैराग्यद्वारा उसको निर्मल, कोमल और शान्त बनाया जा सकता है। अभ्यासके साथ वैराग्यकी भी आवश्यकता है।

संसारके महत्कार्योंका सम्पादन करनेमें दीर्घकालतक सतत पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बहिर्मुख होकर भटकनेवाले मनको वशमें करनेके लिये दीर्घकालतक आदरपूर्वक प्रबल पुरुषार्थ करनेकी नितान्त आवश्यकता है। अल्पकालके थोड़े प्रयत्नसे एकाएक मन वशमें नहीं हो सकता, इसके लिये लंबे समयतक प्रबल परिश्रम करना पड़ता है। यह अभ्यास है।

मनोनिग्रहका दूसरा उपाय श्रीकृष्ण भगवान्ने 'वैराग्य' बतलाया है। मनुष्यका मन संसारके रागद्वेषके चक्करमें पड़कर अति चञ्चल तथा मलिन बन गया है। अनेक जन्मसे वह सांसारिक विषयोंमें भटक रहा है। राग-द्वेषकी तरङ्गोंने मनरूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करके इसको अशान्त और तूफानी बना दिया है। इसमें कुविचारोंकी घोर तरङ्गें उठ रही हैं और जीवन-नौका संकटापन्न होकर भयानक स्थितिमें पड़कर अन्तमें विनाशको प्राप्त हो रही है। इस रागद्वेषको निर्मूल करनेका एक ही उपाय है—'वैराग्य'।

त्याग और वैराग्य—इन दोनोंमें अन्तर है। त्याग इन्द्रियों-द्वारा हो सकता है और वैराग्य मनके द्वारा होता है। विषयोंकी ओरसे बलात् इन्द्रियोंको रोक रखनेपर भी मन उन विषयोंमें रममाण रहता ही है। अर्थात् त्यागकी अपेक्षा वैराग्य विशेष उपकार करनेवाला है।

आर्यावर्त्तमें ऐसे असंख्य महात्मा हो गये हैं जिन्होंने मनोनिग्रहके द्वारा असम्भवको सम्भव और अशक्यको शक्य बनाया है। मनःसंयमके द्वारा अपनी इच्छाशक्ति अमोघ बनती है। यह अमोघ इच्छाशक्ति दृढ़ संकल्पकी जननी है और दृढ़ संकल्प ही उद्धारका मूलमन्त्र है।

इन्द्रियोंको उनके विषयोंमें लगानेवाला, प्रवृत्त करनेवाला मन है। मन यदि इन्द्रियोंका सहायक न बने तो इन्द्रियाँ कुछ भी न कर सकें।

लिखना पढ़ना चातुरी, तीनों बात सहेल।
कामदहन मनवशकरन, गगन चढ़न मुस्केल॥

'जिसने मनको जीता उसने जगत्को जीत लिया'—ऐसी कहावत भी है। 'जितं जगत् केन? मनो हि येन।'

मनकी शक्ति अथाह है, अद्भुत है। हम सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो जान पड़ेगा कि मन कैसे अद्भुत विचार करता है, कितनी अधिक याददाश्त रखता है तथा कितनी कल्पनाएँ करता रहता है और इसकी गति कितनी वेगवान् है। यह सब देखनेपर मनकी विपुल शक्तिका हमको भान होता है। पर साथ ही यह मन मनुष्यका आज्ञाकारी नौकर भी है। मनुष्यकी इच्छाओंकी यह थोड़ी-बहुत पूर्ति करता है। मनुष्य जो चाहे वह काम मनसे करा सकता है। मनुष्य जो कुछ चिन्तन करता है, उसको मन उसके पास हाजिर कर देता है। इतना ही नहीं, मनुष्यकी इच्छाके अधीन होकर वह मृत सगे-सम्बन्धी तथा स्नेहीजनोंको भी स्वप्नमें हाजिर करके उनके साथ भेंट-मुलाकात और बातचीत भी करा देता है। वह स्वप्नमें देवी-देवता या संत-महात्माओंके दर्शन भी कराता है। अशक्य वस्तुको भी यह शक्य बनाता है। मनुष्यको उसकी इच्छाके अनुसार संसारमें भ्रमण भी कराता है और संसारके जन्म-मरणके चक्रसे उबारकर परम शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष भी प्रदान कराता है। इसी कारण ज्ञानी, अनुभवी संतोंने कहा है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'—

संसार चाहिये तो उसको भी मन प्रदान करता है और परम सुख, मोक्ष चाहिये तो उसको भी मन ही प्रदान करता है। मनुष्यकी सेवामें चौबीस घण्टे उसकी आज्ञा पूरी करनेके लिये मन खड़ा तैयार रहता है। यह कभी थकता नहीं, न कभी वृद्ध होता है। मन सतत उद्योगमें रहता है। इसको किसी काममें लगाये रखना मनुष्यके हाथमें है। इसके-जैसा आज्ञाकारी मित्र या नौकर दूसरा कोई नहीं है। परंतु इस मित्रको अपने वशमें कर रखनेके लिये चतुराईकी आवश्यकता है।

व्यवहारमें भी जिस कामको न करनेके लिये बालकको कहिये, उस कामको वह खास करके करेगा। अतएव शिक्षण शास्त्रमें कहा है कि बालकको नकारात्मक आज्ञा नहीं देनी चाहिये। 'झूठ मत बोलो'—यह न कहकर कहना चाहिये कि 'सच बोलो।' 'आलस्य न करो'—के स्थानमें कहना

चाहिये कि 'उद्यमी बनो'। इसी प्रकार मनको भी जिस कामसे निवारण किया जायगा, उसमें उसकी विशेष प्रवृत्ति रहेगी। एक संतने एक शिष्यसे कहा कि जब ध्यान करने बैठो तो अमुक आदमीको याद मत करना। अब शिष्य जैसे ही ध्यान करनेके लिये बैठा, वैसे ही वह आदमी उसके सामने, उसके मनोराज्यमें उपस्थित हो गया। इसी प्रकार मनसे जो काम करवाना न चाहोगे, उस कामको वह खास करके करेगा।

मन कभी बेकार नहीं रहता, वह प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। मनुष्य निद्रित रहता है, तब भी मन स्वप्न-सृष्टिमें विचरण करता रहता है। इस मनको विहित कार्यमें सतत लगाये रखनेके लिये मनुष्यको निरन्तर जागरूक रहना चाहिये और मन क्या कर रहा है—इसकी सजग होकर पहरागिरी करनी चाहिये, ऐसा महापुरुषोंका कहना है।

मनकी रुझान संसारकी ओर होनेके कारण यह संसारके प्रलोभनोंमें पड़ जाता है। नयी-नयी उपाधि खड़ी कर देता है। कुतर्क और कुविचारमें लग जाता है। परंतु शास्त्रोंका कहना है कि उसको बार-बार युक्तिपूर्वक समझाकर श्रेय, कल्याणकारी मार्गमें लगाना चाहिये। मन बलात्कार करनेसे काबूमें नहीं आता, परंतु समझानेसे समझता है। जो मनुष्य मनको वशमें नहीं रखता, बल्कि मनकी इच्छाके अनुसार बरतता है, वह अवनतिके गर्तमें गिरता है। इसके अनेक उदाहरण इतिहासमें मौजूद हैं।

मनको यदि भलीभाँति समझाकर सुसंस्कार-सम्पन्न किया जाय तो वह सारे अच्छे-अच्छे विचारोंमें रमता रहता है और वे सद्विचार क्रियामें परिणत होते रहते हैं। अच्छी तरह सुशिक्षित दृढ़ मन शरीरको भी नीरोग रख सकता है। परंतु मनका स्वभाव चञ्चल होनेके कारण वह घड़ी-घड़ीमें छटकता रहता है, स्थिर नहीं रहता। वह वायुके समान चञ्चल है।

मनुष्य जप या ध्यानमें बैठा रहता है, तो भी उसका मन बाहरके विषयोंमें भटकता रहता है। हाथमें माला फिरती रहती है और जीभसे मन्त्र-जप होता रहता है, उस समय भी मन बाहर भटकता रहता है, अथवा दिनभरके कार्यक्रमकी रूप-रेखा तैयार करता रहता है, प्रोग्राम बनाता रहता है। ध्यान और जप करते समय मन तरङ्गित होता रहता है अर्थात् जप और ध्यानमें जितना चाहिये उतना उपकारक नहीं होता। फिर भी हम यह सब करते रहनेपर भी संतोष रखते हैं। हाड़-मांसके चोले, इस शरीरको प्रभुकी मूर्तिके सामने रखकर मनको हम यथेच्छ भ्रमण करने देते हैं। जिस मनको प्रभुमें लगाना है, वह तो संसारके रागरंगमें बहार करता है, अर्थात् प्रभुमें लगता नहीं। जिस कार्यमें मन नहीं लगता, वह काम ठीक नहीं होता।

छुट्टा और हरहा पशुको वशमें करनेके लिये यदि उसको मारें, पीटें और उसपर जुल्म करें तो वह और अधिक हरहा बन जाता है और छटके रहनेकी कोशिश करता है। कुछ भी करो, वह वशमें नहीं होता। परंतु यदि उसको पुचकार-कर, प्रेम दिखाकर, खानेका लालच देकर धीरे-धीरे विश्वास जमाकर पास बुलाये तो वह लालच और प्रेमके वश होकर पास आता है, तब वह रस्सीसे बाँधा जा सकता है। इसी प्रकार मनको कष्ट देकर बलात् वशमें करनेका प्रयत्न किया जाय तो वह भटकता हुआ मन और भी दूर भागता है और मनुष्यको हैरान, परेशान कर डालता है। परंतु यदि उसको प्रेमसे संसारकी असारता समझाकर, मोक्षसुखका लालच देकर, पटाकर, पुचकारकर स्थिर किया जाय तो धीरे-धीरे वह वशमें हो जाता है। उसका केवल सद्विचार, सदाचार, मोक्षसुख और ब्रह्मानन्द आदिमें प्रेम उत्पन्न करना जरूरी है।

बालकको यदि उसके माँ-बाप 'तू तो आवारा है, उद्धत है, बदमाश है, लम्पट है' आदि वाक्य जब-तब कहकर भर्त्सना देते रहें तो वह बालक बदमाश, लम्पट और आवारा हो जाता है और दिन-पर-दिन उच्छृङ्खल बनता जाता है। परंतु उसको समझाकर, पटाकर, उसकी प्रशंसा करके, कुलकी कीर्तिका ध्यान दिलाकर, अच्छे कामके लिये प्रोत्साहन देकर प्रेमपूर्वक सद्विचार, सदाचार और सद्धर्मकी ओर अग्रसर करानेका प्रयत्न किया जाय तो वह बालक सुधर जायगा और आसानीसे वशमें हो जायगा। इसी प्रकार मनुष्य मनको, 'यह खराब है, भटक रहा है, राक्षस बन रहा है, वानर-जैसा चञ्चल है, दुष्ट है, यह समझनेवाला नहीं है'—इत्यादि कहते रहनेसे अथवा चिन्तन करनेसे मन ढीठ होकर और बहक जाता है और फिर किसी प्रकार वशमें नहीं होता। परंतु मनको उसकी महत्ता समझाकर सारासार-विवेकमें लगाकर उसको धीरे-धीरे स्थिर करवाने तथा सारे श्रेयस्कर विचारोंमें, शुभ भावनाओंमें लगाये रखनेका सात्त्विक प्रयत्न किया जाय तो यह मन मनुष्यका गुलाम बन जाता है। फिर इसे जो काम सौंपा जाता है वह प्रसन्नतासे करता है। परंतु

यह काम चार-छः दिनमें या वर्ष-दो-वर्षमें बननेवाला नहीं है। इसके लिये तो सतत प्रयत्न आवश्यक है। हम कुछ दिन प्रयत्न करके बैठ रहें तो यह काम होनेवाला नहीं।

संसारके तुच्छ विषयोंमें हमारा अधिक अनुराग है, इनमें हम कितना अधिक रममाण रहते हैं, इसको हमारा मन भी समझ गया है, वह हमको पहचान गया है। इसलिये यह हमारे आगे-आगे चलकर हमारी वृत्तियोंको मार्गदर्शन कराता है और हमको दौड़ाता है। हम व्यवहार और परमार्थ दो घोड़ोंपर सवारी करनेकी इच्छा करते हैं, अर्थात् हमको एकमें भी निष्ठा नहीं है। अतएव हमारा प्रयत्न निष्फल हो जाता है। हमारा प्रयत्न भी ऊपरी और क्षणिक है—इस बातको भी मन भलीभाँति समझता है। अतएव यह वशमें नहीं होता। और हम उलटे उसे विभिन्न प्रकारके विषयोपभोगका प्रलोभन देकर, उसे ललचाकर विषयोंकी ओर आकर्षित करते हैं। अतएव वह रातमें नींदमें भी भटकता हुआ नयी-नयी सृष्टि रचता रहता है। नींदके छः घण्टोंको छोड़कर शेष १८ घंटेमें कितनी देर हम मन, अन्तःकरण और इन्द्रियोंको एकाग्रतापूर्वक संयममें रखकर प्रभुके पास बैठते हैं—इसपर विचार करें और मनको स्नेहपूर्वक अधिक-से-अधिक प्रभुमें लगानेका प्रयत्न करें।

'स्व'का चिन्तन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

चिन्तनद्वारा उसका अनुभव होता है जो नित्य-निरन्तर प्राप्त है। जो प्राप्त नहीं है, अपनेसे भिन्न है, वह चिन्तन-मात्रसे नहीं मिलता, उसके संयोगके लिये कर्म करना होता है। 'स्व' अथवा अपने-आपकी अनुभूतिके लिये कर्म नहीं, चिन्तन आवश्यक है। 'स्व' अथवा 'मैं' या अहंका स्फुरण निरन्तर एक ज्योतिकी तरह हो रहा है, उस चिन्मय ज्योतिमें ही जो कुछ पर अथवा भिन्न है, वह प्रकाशित हो रहा है। प्रकाशमें परको देखना दृश्यको देखना है और स्वयं स्फुरित मैं—सङ्गरहित अहंको देखना 'स्व'को देखना है। 'स्व'में ही उस परमाश्रयका बोध होता है जिसमें अहंरूपी चैतन्य-ज्योति स्फुरित हो रही है। 'स्व'के साक्षात्कारका उपक्रम ही स्वाध्याय कहा जाता है।

अध्यात्मविद्याकी शब्दावली और धर्मशास्त्रोंमें 'स्व' प्रमुख शब्द है। शिक्षित समाजमें स्वाभिमान, स्वधर्म, स्वदेश, स्वावलम्बन आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं पर इसमें गर्भित रहस्यकी अभिव्यक्ति अपनी जीवन-चर्य्यामें विरले ही विद्वान् कर पाते हैं। स्व और परके भेदको कुछ ही साधक समझते हैं, प्रायः परके साथ स्वको मिलाकर ही अपना परिचय देते हैं। मानव-जीवनको धर्ममय बनानेके लिये स्वाध्याय परम सहायक साधन अथवा धर्मका प्रमुख अङ्ग माना गया है। अनेक साधक स्वाध्यायका अर्थ पुस्तकोंका अध्ययन समझते हैं। यद्यपि पुस्तकोंके अध्ययनसे अनेक प्रकारका ज्ञान होता है तथापि जहाँ कुछ बातोंका ज्ञान होना हमलोगोंके लिये सुखकर है, वहीं कुछ बातोंका ज्ञान होना सुखकर होते हुए भी अन्तमें दुःखद और अहितकर है।

अध्ययनके द्वारा ही आज मनुष्य अधिकाधिक अभिमानी और कामी होता जा रहा है, वह अध्ययनजनित ज्ञानके बलपर ही अपने मनकी रुचि-पूर्तिके लिये छल, कपट, दम्भ और पाखण्ड करनेकी अच्छी कला जानता है। देहको सजाने और सुखोपभोगको जुटानेमें वह अपने पूर्वजोंको अयोग्य सिद्ध कर रहा है पर स्वाध्यायसे वञ्चित रहकर अपनी अहंकृतियोंका दुष्परिणाम नहीं देख रहा है। अध्ययनसे ही प्रत्येक मनुष्यको अपनी कमियोंका ज्ञान होता है, लोभी, मोही और अभिमानी अध्ययन करते हुए अपनी कमीकी पूर्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। पर स्वका अध्ययन न करनेके कारण अपने-आप अथवा अपने जीवनकी कमीका ज्ञान उन्हें नहीं हो पाता। लाखों मनुष्य अपने अभावकी पूर्तिके लिये ही श्रम कर रहे हैं और जब उन्हें कुछ प्राप्त होता है तब बड़े गर्वसे सिर उन्नत कर अभावपीड़ितोंकी दशा देखकर अपने-आपको कृतकृत्य मानते हैं, पर स्वका अध्ययन न कर सकनेके कारण वे नहीं देख पाते कि संसारके अधिकाधिक ऐश्वर्य-वैभव प्राप्त करनेके पश्चात् भी वे रंक हैं, रिक्त हैं, कामनायुक्त हैं—शान्त, स्वस्थ, निर्भय और मुक्त नहीं हैं। उनके जीवनमें श्रम-ही-श्रम है, विश्राम नहीं है। हमें संतने बताया कि ऐसा अध्ययन करना चाहिये जो जड़तासे चेतनाकी ओर ले जाय, बन्धनसे मुक्तिकी ओर

प्रेरित करे, दुःखके भोगसे बचाकर, अधर्म, अन्याय और पापसे रक्षा कर धर्म, न्याय और पुण्यको प्रकाशित करता रहे; जो पर—अन्यसे विमुख बनाकर स्वमें स्थिर कर दे।

अनेक साधक उसका चिन्तन करते हैं जो कर्मके द्वारा प्राप्त होता है और उसकी प्राप्तिके लिये कर्म करते हैं जो चिन्तनमात्रसे प्राप्त दीखता है। हमें सावधान किया गया है कि जो कुछ अपनेसे भिन्न है, उसकी प्राप्तिके लिये विधिवत् कर्म करना पड़ता है। प्राकृतिक विधानसे जो कुछ मिलता है उसपर अपना अधिकार तो होता नहीं है, वह अविवेकके कारण अपना ही प्रतीत होता है और वहीं अपने आपको—स्वको आच्छादित कर लेता है। स्वकी विस्मृतिमें ही संसार सामने आता है। स्वमें देह, धन, कुल, जाति, रूप, वर्ण और सम्बन्धी आदिके भर जानेपर उन्हींका आकार-अहंकार बन जाता है। हमें यह भी समझाया गया है कि जो कुछ तुम अपने स्वमें रख लेते हो, उसीको मेरा मानने लगते हो और जिस वस्तुमें स्वको प्रतिष्ठित कर देते हो उसीसे तन्मय होकर 'मैं' मानने लगते हो—ये ही 'मैं' और 'मेरापन'—दोनों बन्धनके हेतु हैं। बन्धनसे मुक्ति पानेके लिये उस ज्ञानकी आवश्यकता है जो स्वके अध्ययनसे प्राप्त होता है।

भोगी सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियोंका अध्ययन करता है, उनके उपभोग और उपयोगका ज्ञान प्राप्त करता है पर जो योगाभ्यासी है उसे स्वका अध्ययन आवश्यक होता है, इसके बिना समस्त विद्याएँ और योग्यताएँ निस्सार हैं। स्वके अध्ययनमें—चिन्तनमें अविद्याकी सीमान्तर्गत सुखासक्ति बाधक बनती है, गुरु-विवेक स्वके अध्ययन-चिन्तनमें परम सहायक होता है। स्वको न जानना अज्ञान है और जानना मुख्य ज्ञान है। स्वको न जाननेके कारण मिली हुई देहादि वस्तुओंसे तन्मय हो जानेसे ही काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय, हिंसा और घृणा आदि दोष उत्पन्न होते हैं, पुष्ट होते हैं और प्राणीको दुःख देते हैं। तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें वे अभागे दयाके पात्र हैं जो संसारके विषयमें बहुत अधिक जानकारी रखते हैं पर स्वको नहीं जानते हैं। स्वके अध्ययन-चिन्तनसे चित्त चिन्मय होता है, पर—जडके चिन्तनसे वह जड़मय बना रहता है। जो स्वरूपको जानकर अनित्य वस्तुसे असंग हो जाता है उसीपर संसारका शासन नहीं रहता, स्वको न जाननेवाला ही पर—देहादिमें अटका रहता है; जो देहमें रुका है वही भौतिकवादी अध्यात्मसे विमुख है। स्वके अध्ययनसे भौतिकवादीकी सद्गति—परम गति अध्यात्मकी ओर होती है।

स्वाध्याय करते हुए ही हमें यह ज्ञात हो सका कि जब हम उत्पन्न होने और विनाश होनेवाली देहादि वस्तुसे अपनेको मिलाकर उन्हें अपना रूप मानने लगते हैं, हम सत्यसे विमुख हो जाते हैं। जो कुछ हमें मिला है उसे अपना मानकर जबतक अपनेमें हम उसे स्वीकार किये रहते हैं, तबतक हम बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाते। अपनी स्वीकृतियोंसे जबतक हम मुक्त नहीं हो पाते तबतक नित्य प्राप्त परमात्माके भक्त नहीं हो पाते हैं। स्वाध्यायद्वारा ही यह ज्ञान होता है कि जिस देहमें स्वको प्रतिष्ठित कर रखा है वह मेरा नहीं है, जब देह मेरा नहीं है तब मैं देहमय रूप नहीं हूँ, जड़ नहीं हूँ, उत्पत्ति-विनाशधर्मी भी नहीं हूँ। इसी तरह स्वमें प्रतिष्ठित कुछ भी अपना नहीं है, अहंता, ममता तथा आसक्तिके लिये कुछ बचता ही नहीं है। अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित होते ही स्व नित्य मुक्त है। जड वस्तुसे असंग होते ही स्व चिन्मय है। चिन्मात्र तत्त्वकी अनुभूति होते ही यही स्व परमात्मासे नित्ययुक्त है। स्वका सत्यसे नित्य युक्त चिन्तन करते ही भक्ति सुलभ हो जाती है, इसीलिये संतने बताया है कि भक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त होती है, भोग परतन्त्रतापूर्वक प्राप्त होते हैं। भक्ति स्वमें ही सुलभ होती है, भोग पर—अन्यके संयोगसे अत्यधिक श्रमसे मिलते हैं। नित्यप्राप्त सत्य—परमात्माका अनुभव नित्य विद्यमान स्वमें होता है, उसके अनुभवका साधन स्वाध्याय है।

स्वमें जब किसी अन्यके स्मरण-चिन्तन नहीं होते, तब जो शेष है वही तो परमात्मा है जो नित्य विद्यमान है पर अन्यकी स्मृतिसे वह ढका-सा रहता है। जिस प्रकार सूर्यसे उत्पन्न बादल सूर्यको ढके हुए-से दीखते हैं और उसीकी किरणोंसे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार अपने आपद्वारा परको स्वीकार कर लेनेपर सत्य ढक-सा जाता है, अस्वीकार करते ही आवरण हट जाता है। एक संतने हमें समझाया कि स्वका अध्ययन कर लेनेके पश्चात् शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये, स्वको जाने बिना शास्त्रके अध्ययनसे अहंकार पुष्ट होता है, मानकी तृष्णा प्रबल होती है। स्वके अध्ययनके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं है, परके अध्ययनके लिये दूसरेकी अपेक्षा है। अन्यके अध्ययनसे भोग भले ही मिलते हैं, योग नहीं होता। स्वके अध्ययनसे योगकी सिद्धि सुलभ होती

है।···स्वाध्यायमें भोग नहीं है, न संघर्ष है, न अशान्ति है, केवल दर्शन है। स्वाध्यायके द्वारा शान्ति मिलती नहीं, नित्य मिली दीखती है।···एक संतने हमें सावधान किया था कि जब देखते-देखते दृश्यकी सीमा पार कर देखनेको कुछ नहीं रहता है, तभी स्वका बोध होनेपर ही परमात्माका बोध होता है। स्वके अध्ययनसे उस मिलावटका ज्ञान होता है जिसके कारण अहं साकार दीखता है, मिलावटसे असंग हुए बिना स्वमें नित्य विद्यमान सत्यका दर्शन नहीं होता। जब स्वमें नाम-रूप नहीं रह जाते तभी शुद्ध चैतन्यमात्र शेष रहता है, यह अनुभूति परमात्माकी अनुभूति है। आकारयुक्त 'मैं' का ज्ञान जीव है, जीव अज्ञानमें ही है, अहंकाररहित आत्मा ही परमात्मा है, वहाँ अज्ञान नहीं है। शान्त रहकर स्वके सतत चिन्तनसे ही आत्माकी अनुभूति होती है। एक संत समझा रहे थे कि सत्यको जाननेके लिये बाहर कहीं न भटको, केवल स्वकी ही शरण लो, आत्मारामको पानेके लिये शिवकी शरण लेनी पड़ती है, स्वमें ही शिवतत्त्व है, जहाँ अनेकताका अन्त होता है, वहाँ एकान्त कैलाशमें शक्ति-शिवका दर्शन होता है। शिवशक्तिके योगके लिये जो स्व नहीं है उससे तादात्म्य तोड़ना पड़ता है। शब्दोंको छोड़कर स्वयंमें शान्त होनेसे परमात्माकी उपलब्धिका ज्ञान होता है। सत्यकी विस्मृति परके सङ्गसे होती है, परके सङ्गमें ही संसार सामने रहता है, स्वकी स्मृतिमें सत्य परमात्माका योग होता है।

स्वाध्यायद्वारा ही नामरूपका अभिमान मिटता है, इसीलिये साधकको नामरूपरहित स्वके चिन्तनमें ही विश्राम मिलता है। परके सङ्गमें तो काम-ही-काम रहता है। एक संत कह रहे थे कि स्वके अज्ञानमें ही जो परमात्मा जगन्मय दीखता है, स्वके ज्ञानमें वही जगत् परमेश्वरमय दीखता है। स्वाध्यायद्वारा ही विषमताको पार करनेपर समता आती है, समतामें सत्य परमात्माकी अनुभूति होती है।

जो कुछ अपने आपसे भिन्न है, उसीसे अध्ययन आरम्भ होता है और परकी प्रकृतिकी सीमासे लौटकर स्वके अध्ययनसे अध्ययनकी समाप्ति होती है। हमें संतने सावधान किया है कि देहादि—पर वस्तुओंके सङ्गसे देहाभिमान, धन, विद्या और कुलके अभिमान आदिकी रक्षा होगी, स्वधर्मकी रक्षा नहीं होगी। इसलिये स्वको जानो, परका चिन्तन छोड़कर स्वका चिन्तन करो। स्वमें सत्य विद्यमान है, स्वमें स्थिर होनेपर ही नित्ययोग है, स्वमें प्रीति समेटनेपर ही भक्ति है।

सबका सदा परम कल्याण चाहो

पर-हितको निज अहित मानता, पर-विकासको जो निज नाश।
पर-यशको निज अयश मानता, पर-उन्नतिको अपना ह्रास॥
पर-सुखको निज दुःख मानता, पर-पूजनको निज अपमान।
पल-पल पाप कमाता ऐसा मानव अति दुर्मति, अज्ञान॥
रोग-भोग, निन्दा-स्तुति, अनहित-हित, जय-हार, मान-अपमान।
मिलते सब, होता जैसा निज कर्मजनित प्रारब्ध-विधान॥
कोई कर सकता न हमारा बिना कर्मके कुछ नुकसान।
पर निमित्त जो बनता, स्वयं खोदता वह निज दुखकी खान॥
हो चाहे प्रतिकूल परिस्थिति, हो चाहे सब विधि अनुकूल।
दोनों ही प्रभु-प्रेरित हैं, दोनोंमें प्रभु-अनुकम्पा मूल॥
उनसे लाभ उठाओ, चाहो सबका सदा परम कल्याण।
निज सुख-तन-मन-धन दे, चाहो परका सदा विपद्से त्राण॥

साधन-माला

[साधनोपयोगी सुनी हुई बातोंका संग्रह]

(संग्राहक तथा लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

१—मिली हुई वस्तु आदिको अपनी मान लेना अर्थात् उनमें ममता करना, उनको अपने सुखभोगकी सामग्री मानना ही साधनमें विघ्न है, अतः उनका सर्वहितकारी भावसे सेवामें उपयोग करना और बदलेमें मान-बड़ाई आदि किसी प्रकारके सुखकी कामना न करना ही साधन है।

२—भोगोंकी वास्तविकता जाननेके लिये अर्थात् उनमें वैराग्य होनेके लिये ही मर्यादित भोगोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। यदि विचारपूर्वक भोगवासना नष्ट कर दी जा सके तो भोगोंमें प्रवृत्ति आवश्यक नहीं है।

३—अहितकारक प्रवृत्तियोंका और भावनाओंका त्याग करना सभीके लिये परम आवश्यक है। अतः भिन्नताको लेकर तो प्राप्त शक्ति आदिका सबकी सेवामें सदुपयोग करना और एकताको लेकर सबके साथ परम प्रेम करना ही साधकका उद्देश्य होना चाहिये।

४—मनुष्यमें जो क्रिया-शक्तिका वेग है, उसकी जो कर्म करनेकी आसक्ति है, उसे मिटानेके लिये ही कर्म करनेका विधान है। किसी प्रकारके फलके लिये नहीं। जो फलके लालचसे कर्म करता है, उसका लक्ष्य कर्मकी सुन्दरतापर नहीं रहता। वह लोभके कारण कर्ममें अनेक प्रकारके दोष और त्रुटियोंका समावेश कर लेता है।

५—साधकको चाहिये कि किसी भी प्रकारकी परिस्थितिमें वह राग-द्वेष करके आबद्ध न हो, किंतु प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके उससे ऊपर उठनेकी चेष्टा रक्खे। प्रत्येक परिस्थितिको साधनकी सामग्री समझे।

६—विवेकविरोधी कर्मका मनुष्य-जीवनमें कोई स्थान नहीं है। जो कर्म किसीके लिये अहितकर हो, वहीं विवेक-विरोधी है। हर एक काम पवित्र भावसे भावित होकर ही करना चाहिये। क्रियाकी अपेक्षा भावका महत्त्व अधिक है।

७—कर्तव्य-पालनका दायित्व साधकपर तबतक रहता है, जबतक उसके जीवनसे अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्पोंका अभाव न हो जाय, शुभ संकल्प पूरे होकर मिट न जायँ, सहज भावसे निर्विकल्पता न आ जाय, अपने-आप आयी हुई निर्विकल्पतासे असंगता न हो जाय।

८—जो काम मनुष्य अपने लिये दूसरोंसे नहीं चाहता, वह उसे दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिये। कोई भी अपनी बुराई नहीं चाहता, अतः मनुष्यको किसीके साथ बुरा व्यवहार नहीं करना चाहिये। हरेक क्रिया सर्वहितकारी भावसे करनी चाहिये।

९—साधकको चाहिये कि करनेयोग्य हर एक कामको साधन समझे। जो काम कर्तव्यरूपमें प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का समझकर पूर्ण योग्यताके साथ उत्साहपूर्वक जैसे करना चाहिये, ठीक-ठीक सावधानीसे करे। किसी भी कामको छोटा न समझे, उसमें तुच्छ बुद्धि न करे।

१०—मनुष्यको जो शरीर तथा अन्य वस्तुएँ मिली हैं, वे संसारकी सेवा करके उससे उऋण होनेके लिये मिली हैं और मन भगवान्‌का चिन्तन करके उनमें तन्मय होनेके लिये मिला है। अतः दोनोंका यथायोग्य उपयोग करके कृतकृत्य हो जाना चाहिये।

११—मनुष्यमात्रको क्रिया, भाव और विवेक प्राप्त है। अतः विवेकसे प्रकाशित भाव और पवित्र भावसे भावित कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। वर्तमान कर्तव्य-कर्म किये बिना क्रिया-शक्तिका वेग शान्त नहीं होता तथा करनेकी आसक्तिका नाश नहीं होता। अतः करनेकी आसक्तिसे मुक्त होनेके लिये पवित्र भावसे कर्तव्यपालन करना आवश्यक है।

१२—जब सेवकके जीवनमें अधिकार-लालसा सर्वथा नष्ट हो जाती है, तब उसके द्वारा की हुई सेवा विभु होकर समाजमें सेवा-भावका विस्तार करती है। अतः सेवकके लिये सेवक कहलानेतककी भी लालसाका सर्वथा त्याग हो जाना परम आवश्यक है।

१३—परिस्थिति-परिवर्तनकी अपेक्षा उसके सदुपयोगका बड़ा महत्त्व है। अतः प्राप्त परिस्थितिको हितकर जानकर

उसका सदुपयोग करना चाहिये। सर्वहितकारी भावसे ही हर एक परिस्थितिका सदुपयोग हो सकता है।

१४—बुद्धिको विवादमें न लगाकर सत्यकी खोजमें लगाना चाहिये। समयको उपभोगमें न लगाकर शान्तिमें लगाना चाहिये। मनको व्यर्थ चिन्तनमें न लगाकर सार्थक चिन्तनमें लगाना चाहिये।

१५—साधकको ऐसा साधन अपनाना चाहिये जो किसी दूसरेपर अवलम्बित न हो, जो सर्वथा स्वतन्त्र हो। जो साधक अपने साधनमें दूसरोंके सहयोगकी आशा रखता है या उनसे सहायता लेता रहता है, उसका उन व्यक्तियोंमें मोह और पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है।

१६—साधकको चाहिये कि अपनेपर अपना आधिपत्य करे, की हुई भूलको पुनः न दुहरावे, सबका हित करे, किसीके अधिकारका अपहरण न करे। इस प्रकार जिसका जीवन दूसरोंकी आवश्यकता बन जाता है, वही सच्चा साधक है।

१७—राग-द्वेषसे रहित होकर इन्द्रियोंद्वारा कर्तव्य-पालन करनेवाला साधक उस स्थितिको प्राप्त कर सकता है, जो सुख-दुःखसे सर्वथा अतीत है, जिसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

१८—साधकको जो काम कर्तव्यरूपमें प्राप्त हो, उसे भगवान्का काम समझकर उत्साहपूर्वक, उसमें विवेक, स्नेह और शक्तिको भलीभाँति लगाकर कुशलताके साथ करना चाहिये। आलस्यसे या अवहेलनासे अथवा उतावलेपनसे नहीं करना चाहिये।

१९—जबतक जीवन प्रभु-प्रेमसे पूर्ण न हो जाय, तबतक सावधानीपूर्वक भगवान्की प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालन करते रहना चाहिये।

२०—साधकके लिये कर्तव्य-कर्म वही है, जो विधानके अनुकूल हो, जिसमें किसीका अहित न हो, जो सर्वहितकारी हो और जिसके करनेकी वर्तमानमें ही आवश्यकता हो।

२१—जिस कामको मनुष्य बुरा समझता है, उसका त्याग न करना और जिसको करना अच्छा समझता है, उसे भी न करना—यह भूल है। साधकको इस भूलका सुधार अवश्य करना चाहिये।

२२—प्रत्येक कार्य स्वीकार किये हुए स्वाँगकी दृष्टिसे नाटककी भाँति आसक्ति और कामनाका त्याग करके सर्व-हितकारी भावसे करना चाहिये। धर्मानुसार जो स्वाँग स्वीकार किया है, उसके विधानके विपरीत कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये।

२३—माने हुए सम्बन्धकी स्वीकृतिको स्वाँगकी भाँति कर्तव्य-पालनके लिये समझना चाहिये, सत्य नहीं।

२४—वर्तमानमें जो परिस्थिति प्राप्त है, उसके अनुसार सावधानीपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये। अप्राप्त परिस्थितिकी कामना नहीं करनी चाहिये।

२५—क्रियामें भेद होनेपर भी लक्ष्यमें भेद नहीं होना चाहिये। साधककी हर एक क्रिया प्रभु-प्रेमके उद्देश्यसे उनकी प्रसन्नताके लिये ही होनी चाहिये।

२६—स्वार्थभाव मिटानेके लिये सेवा करनेका स्वभाव बना लेना परम आवश्यक है। निष्काम सेवासे ही स्वार्थ-भावका अन्त हो सकता है। जिसकी सेवा की जाय, उसके हितपर दृष्टि रखनी चाहिये, उसे सुन्दर और निर्मल बनानेका लक्ष्य रखना चाहिये।

२७—अच्छे कर्मोंका आचरण अवश्य करना चाहिये, परंतु उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार बुरे कर्मोंका त्याग अवश्य करना चाहिये, परंतु उनसे द्वेष नहीं करना चाहिये।

२८—ऐसा कोई भी काम साधकको नहीं करना चाहिये जिसको प्रकट नहीं किया जा सके, जिसमें किसीका अहित हो, जो विधानके विपरीत हो। ऐसा भी कोई काम साधकको नहीं करना चाहिये, जो क्रियाकी आसक्तिको और भोगवासनाको बढ़ानेवाला हो एवं भगवान्के भजन-स्मरणमें बाधक हो।

२९—परिस्थितिके परिवर्तनमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, किंतु प्राप्त परिस्थितिके उपयोगमें सर्वथा स्वतन्त्र है। अतः साधकको परिस्थितिके परिवर्तनकी बात न सोचकर उसका सदुपयोग करके परिस्थितियोंसे अतीतका जीवन प्राप्त कर लेना चाहिये।

३०—साधककी हर एक प्रवृत्ति उसको अपने साध्यकी ओर ले जानेवाली, प्रवृत्तिकी आसक्तिको मिटानेवाली, सर्व-हितकारी भावसे भावित और सर्वथा निष्काम होनी चाहिये।

३१—कर्तव्य-पालन करते समय सब प्रकारसे शान्त,

उद्वेगरहित और सावधान रहना चाहिये । राग-द्वेषको अपने अन्तःकरणमें स्थान नहीं देना चाहिये ।

३२—मनुष्यका जो कर्म है, उसे वह सहजमें कर सकता है, जिसके करनेकी सामर्थ्य और सामग्री नहीं है, वह उसका कर्तव्य ही नहीं है । अतः कर्तव्यपालनमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं है ।

३३—अपने द्वारा किये हुए व्यवहारके बदलेमें अपने अनुकूल व्यवहारकी आशा या कामना नहीं करनी चाहिये ।

३४—अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओंको शारीरिक हितकी दृष्टिसे काममें लेना चाहिये । स्वाद या शौकीनीके लिये नहीं ।

३५—प्रत्येक काम आरम्भ करनेके पहले उसपर हित-अहितकी दृष्टिसे गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिये ।

३६—बुराईका उत्तर भलाईसे देनेका स्वभाव बना लेना चाहिये । दूसरेके द्वारा की हुई बुराईका प्रभाव अपने ऊपर नहीं होने देना चाहिये ।

३७—वाणीका संयम करनेके लिये व्यर्थ बात न करनेका, स्वाभाविक मौन रहनेका स्वभाव बना लेना चाहिये । आवश्यक होनेपर ही दूसरेसे बात करनी चाहिये ।

३८—बिना आवश्यकताके विलासिताके भावसे मन बहलानेके लिये जनसमाजसे नहीं मिलना चाहिये । जिससे मिलना हो, उसके हितका भाव रहना चाहिये ।

३९—व्यर्थ चेष्टाके त्यागसे जितेन्द्रियता स्वाभाविक प्राप्त होती है, अतः साधकको किसी समय मन और इन्द्रियके द्वारा व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी चाहिये ।

४०—प्रतिकूल परिस्थितिसे दुखी होना, अपने दुःखमें दूसरोंको कारण समझना तथा उसको दूर करनेके लिये दूसरोंको दुखी करना—दुःखकी वृद्धि करना है । अतः प्रतिकूलतासे भयभीत न होकर उसका सदुपयोग करना चाहिये ।

४१—किसीकी हानिमें अपना लाभ, किसीके अनादरमें अपना आदर, किसीकी निर्बलतामें अपना बल, किसीकी हारमें अपनी जीत, किसीके ह्रासमें अपना विकास मानना तथा किसीके अहितमें अपने हितका दर्शन करना—यह सर्वथा प्रमाद है । साधकको प्रमादका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

४२—सम्प्रदाय, मत, वाद, मान्यता, सिद्धान्त, वर्ण, आश्रम आदिको लेकर परस्परमें प्रेमका भेद नहीं होना चाहिये । हम सब उस एक ही परमेश्वरके हैं । इस भावसे प्रेमकी एकताको सुरक्षित रखना चाहिये ।

४३—सभी मत-सम्प्रदाय आदिकी उत्पत्ति सामाजिक भूलोंको मिटानेके लिये, सबका कल्याण करनेके लिये होती है । व्यक्तियोंका कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण ही सम्प्रदाय आदिका मुख्य उद्देश्य है । परंतु उनकी ममता मनुष्यको पागल बना देती है । वे अपना सुधार करना भूलकर राग-द्वेषकी सृष्टि कर लेते हैं । साधकको इस भूलका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

४४—शान्ति तथा एकताको सुरक्षित रखनेके लिये अपने मत, सम्प्रदाय आदिका अनुसरण तथा दूसरोंके मत, वाद, सम्प्रदाय आदिका आदर करना परम आवश्यक है ।

४५—साधकका जीवन अपनी मान्यता और जानकारीसे अभिन्न होना चाहिये । मान्यता, जानकारी और जीवन तीनोंकी एकता होनी चाहिये, उनमें भेद नहीं रहना चाहिये ।

४६—भोगोंकी वासना, उनको प्राप्त करनेका संकल्प, उनका सम्बन्ध और चिन्तन—यही बन्धन है । बन्धनको काटनेके लिये साधकको चाहिये कि सब प्रकारके भोगोंकी चाहका त्याग करके उनके सम्बन्ध और चिन्तनसे रहित हो जाय । शरीरको 'मैं' माननेसे तथा उससे सम्बन्ध रखनेवालोंको 'मेरा' माननेसे आसक्ति हो जाती है । आसक्तिके कारण ही भोग सुखप्रद प्रतीत होते हैं ।

४७—साधकको चाहिये कि अपने दोषोंको खोज-खोजकर निकाले । दूसरेके दोषोंको देखनेमें और उनकी आलोचना करनेमें अपने अमूल्य समयको नष्ट न करे ।

४८—साधकको क्रिया-शक्तिका उपयोग तो सेवामें करना चाहिये तथा चिन्तन-शक्तिका उपयोग भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपके चिन्तनमें करना चाहिये । चिन्तन, विश्वास और प्रेम करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है ।

४९–मनकी चाह पूरी करनेमें स्वाधीनता नहीं है। परंतु उसका त्याग करनेमें साधक सर्वथा स्वाधीन है। इसी प्रकार भोगोंकी वासनाका तथा संकल्पका भी त्याग करनेमें साधक सर्वथा स्वाधीन है। अतः उनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

५०–सच्चा साधक वही हो सकता है, जिसने अपनी सेवा कर ली है, अर्थात् अपने जाने हुए दोषोंका त्याग करके अपनेको सेवक बना लिया है। ऐसे सेवकके जीवनसे सेवा-भाव विभु होता है।

५१–सच्चा सेवक हुए बिना की हुई सेवा सेवाके रूपमें भोग है। वह मनुष्यको गुणोंके अभिमानमें आबद्ध कर देता है। गुणोंका अभिमान सब दोषोंकी भूमि है। अतः सेवाके रूपमें भोगका सर्वथा त्याग परम आवश्यक है।

५२–जब मनुष्य अपने दुःखका कारण किसी दूसरेको नहीं मानता, तब उसके जीवनमेंसे द्वेषभावका सदाके लिये अभाव हो जाता है तथा वैरभावका नाश हो जाता है, जिसके होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणोंकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है।

५३–मनुष्य स्वयं अलग रहकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगाना चाहता है, यहाँसे ही गलती होती है। मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ तो साधकके औजार हैं। जब साधक अपने-आपको भगवान्‌में लगा देता है, तब मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ तो उसके साथ अपने-आप लग जाती हैं।

५४–साधक यह अभिमान रखता है कि मैं सत्संगी हूँ। दोषोंको किस प्रकार दूर करना चाहिये, सद्‌गुणोंका और सदाचारका किस प्रकार पालन करना चाहिये, इस बातको जानता हूँ, दूसरे नहीं समझते। इस भावसे जो दूसरोंसे सुधारकी बात कहता रहता है, वह अनेक वर्षोंतक सत्संग करते रहनेपर भी अपने लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं कर सकता।

५५–जो साधन साधकको अपना जीवन प्रतीत होता हो, जिसके बिना रहा नहीं जाता हो, जो जीवनसे भी अधिक प्रिय हो, वह साधन ही उसका साधन है। साधकमें कभी भी साधनका अभिमान नहीं होना चाहिये तथा किसी भी अवस्थामें साधन भार-सा नहीं प्रतीत होना चाहिये।

५६–साधन कोई भी छोटा-बड़ा नहीं होता। उसमें प्रेम होना चाहिये और उसमें पूरी शक्ति लगनी चाहिये। उत्साह, व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये। साधनमें किसी प्रकारके रसका उपभोग और सफलताका अभिमान नहीं करना चाहिये।

५७–साधकको अपने जाने हुए दोषोंका त्याग करके शुद्ध होना चाहिये। निर्दोष कहलानेकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। यदि कोई अपना दोष बतलाये तो उसकी बात शान्तिपूर्वक सुनकर अपने दोषोंको सूक्ष्मतासे देखना चाहिये और उनको मिटाना चाहिये।

५८–मनुष्य दोषोंमें सुख-भोगकी कल्पना करके रस लेता रहता है। इस कारण उनके रहनेका दुःख नहीं होता तथा उनको मिटानेकी लालसा और कोशिश भी नहीं होती। अतः साधकको दोषोंमें रस नहीं लेना चाहिये।

५९–मानव-जीवनमें आचारकी बड़ी आवश्यकता है। आचारसे पतित तो मनुष्य नहीं, पशु है। मनुष्य तो वही है जो आचार और विचारसे सम्पन्न है।

६०–मनमें राग-द्वेष आदिका न रहना ही सच्चा आचार है। बाहरकी पवित्रता भी भीतरकी शुद्धिको बढ़ानेके लिये ही है। आचार मनुष्यको घृणा नहीं सिखाता। दोषोंके नाश हो जानेका नाम ही शुद्धि है। दोषोंका त्याग करना कठिन नहीं है।

६१–अपनेको पवित्र और दूसरोंको अपवित्र मानकर अभिमान करना आचार नहीं है। शरीरमें और मनमें शुद्धि आदि बढ़ानेका नाम आचार है।

६२–शरीरको आलसी बना देना, मनको राग-द्वेषसे भर लेना, बुद्धिको विवेकहीन बना देना—यही अशुद्धि है। इसको दूर करना ही असली आचार है।

६३–न्याय और प्रेम दोनों उन्नतिके साधन हैं। अपने बनाये हुए दोषोंको अन्त करनेके लिये साधकको अपने प्रति न्यायका उपयोग करना चाहिये तथा भेदका नाश करनेके लिये अन्यके प्रति प्रेमका उपयोग करना चाहिये।

६४–सुख-दुःख दिन-रातकी भाँति अपने-आप आते-जाते हैं। सुख सेवाका और दुःख त्यागका पाठ पढ़ानेके लिये

आता है। अतः साधकको सुखमें उदार और दुःखमें विरक्त रहना चाहिये।

६५–सुख-दुःखका भोग करनेवाला मनुष्य सुख-दुःखके जालमें फँस जाता है। उनका सदुपयोग नहीं कर सकता। अतः साधकको सावधानीपूर्वक दोनोंको साधनकी सामग्री समझकर समभावसे उनका सदुपयोग करना चाहिये।

६६–सुख-दुःख दोनों ही जाने-आनेवाले और अनित्य हैं। अतः साधकको दोनोंसे अतीत जो जीवन है, उसकी खोज करनी चाहिये। दोनोंमें सम रहकर रागद्वेषका नाश करना चाहिये।

६७–सुखके लोभीको दुःखके भयसे भीत होना पड़ता है। आया हुआ सुख तो चला जाता है पर उसका राग बना रहता है। दुःखसे भी अधिक दुःखका भय उसे भीत करता रहता है। सुखके प्रलोभनसे और दुःखके भयसे मनुष्य विवेकका अनादर करता है। अतः साधकको सुखकी आसक्तिका और दुःखके भयका नाश कर देना चाहिये।

६८–सम्मानकी दासताने अभिमानको जन्म देकर सेवाभावको आच्छादित कर लिया है। अतः साधकको किसी प्रकारके गुण या पदके अभिमानको स्थान नहीं देना चाहिये तथा सम्मानकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

६९–अहंता, ममता और कामनाका नाश होना साधकके जीवनमें परम आवश्यक है। यह मालूम होनेके बाद भी अहंता, ममता और कामनाका नाश नहीं होता। इसका कारण वर्तमान परिस्थितिमें किसी-न-किसी प्रकारकी आसक्ति है, उसीमें संतोष है, उसके परिवर्तनकी आवश्यकताका ज्ञान नहीं है।

७०–साधकको चाहिये कि अपनी जानकारीके अनुरूप जीवन बनाये और मान्यताके अनुसार कर्तव्यका पालन करे। दूसरोंकी जानकारीका अनादर न करे तथा किसी प्रकारका संदेह भी न करे। अपनेको शरीर मानते रहना ही अपनी जानकारीका अनादर करना है; क्योंकि यह सभी जानते हैं कि शरीर मैं नहीं हूँ।

७१–जबतक मनुष्य मान्यता तो केवल कथनमें रखता है और जीवनमें देहभाव रखता है तथा विधानका पालन नहीं करता, तबतक वह साधक साधनपरायण नहीं हो सकता। देहभाव उसको भोगोंमें फँसाता है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकारोंकी उत्पत्ति देहभावसे ही होती है।

७२–संसारकी चाह मिटानेसे संसारका सम्बन्ध छूट जाता है। वास्तवमें चाहको मिटाना कठिन नहीं है। उसे पूरी करनेमें बहुत कठिनाई है; क्योंकि चाहकी पूर्तिमें प्राणी सदैव पराधीन है, उसका त्याग करना सब प्रकारसे सुगम और सरल है।

७३–जो साधक भगवान्‌को अपना लेता है, सब प्रकारसे उनका हो जाता है, वह कैसा है, उसका आचार-व्यवहार कैसा है, वह जाति-पाँतिमें ऊँचा है या नीचा है, इस बातका विचार न करके भगवान् उसको अपना लेते हैं। भगवान्‌की इस महिमाको जानकर मनुष्यको भगवान्‌के शरण हो जाना चाहिये।

७४–साधकको हर एक परिस्थितिमें भगवान्‌की कृपाका दर्शन करना चाहिये तथा समझना चाहिये कि मुझे जो विवेक मिला है, वह भगवान्‌का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य सब साधन-सामग्री उन्हींकी है। उन्होंने ही कृपापूर्वक इनका सदुपयोग करनेके लिये दिया है। यह समझकर किसी भी वस्तु या शक्तिका अभिमान या दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

७५–प्रेमकी इच्छा रहते हुए भी यदि प्रेम प्राप्त न हो तो उसके न मिलनेकी गहरी वेदना होनी चाहिये। प्रेमकी चाह भी है और उसके प्राप्त होनेकी तीव्र वेदना भी नहीं है तो जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका रस है, चाहे किसी प्रकारके सद्‌गुणका रस या किसी प्रकारके सदाचारका रस हो सकता है; क्योंकि जबतक भोगोंमें रस प्रतीत होता है, तबतक प्रेमकी सच्ची चाह ही नहीं होती।

७६–प्रभु-प्रेमका मूल्य सद्‌गुण या सदाचार नहीं है। वे मनुष्यमें किसी सौन्दर्य या गुणके कारण प्रेम नहीं करते। वे तो उसीमें प्रेम करते हैं, जो उनपर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, अतः हर एक मनुष्य उनके प्रेमका अधिकारी है।

७७–सुख-भोगकी रुचि और प्रवृत्तिसे ही मनुष्य भगवान्‌से विमुख होता है और भोगवासनाकी निवृत्तिसे भगवान्‌के सम्मुख और संसारसे विमुख होता है।

७८—ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये कर्मकी आवश्यकता नहीं है। उनकी प्राप्तिकी तीव्र लालसा होनी चाहिये। साधक जितना अधिक प्रभुके लिये व्याकुल होता है, उतना ही शीघ्र उसे भगवान् मिल जाते हैं।

७९—मैं शरीर नहीं हूँ, यह जान लेनेसे समस्त वासनाओं-का अन्त हो जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है, बुद्धि सम हो जाती है, समस्त दुःखोंका सदाके लिये अभाव हो जाता है तथा केवल ईश्वर-प्रेमकी लालसा जाग्रत् रहती है। वह ईश्वरसे मिला देती है।

८०—साधकको चाहिये कि न तो संसारको अपना विरोधी मानकर उससे द्वेष करे और न अपनत्वका सम्बन्ध जोड़कर राग करे। सर्वथा राग-द्वेषरहित उदासीन रहे तथा उसके अधिकारकी रक्षा करके उससे उऋण हो जाय। संसारके सम्बन्धने ही मनुष्यको प्रभुसे विमुख किया है।

८१—जो साधक भीतरसे संसारसे सम्बन्ध जोड़े रहता है और ऊपरसे सम्बन्ध तोड़कर भगवान्का भजन-स्मरण करनेके लिये अलग रहता है, वह भगवान्का चिन्तन नहीं कर सकता। व्यर्थ चिन्तन होता रहता है। उससे सम्बन्ध नहीं टूटता।

८२—जबतक मनुष्य संसारसे या अपने साथियोंसे किसी प्रकार अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा रखता है, अपने कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन करके उनसे सर्वथा उऋण नहीं हो जाता, तबतक उसका शरीर, संसार और माने हुए साथियोंसे सम्बन्ध नहीं छूटता। अतः साधकको चाहिये कि उनके सम्बन्धका त्याग करके भगवान्से सम्बन्ध जोड़ ले।

८३—साधकको चाहिये कि अपनेको पतित जानकर और भगवान्को पतित-पावन मानकर अपनेको उनके समर्पण कर दे, सर्वतोभावसे उनका हो जाय।

८४—मनुष्य सोचता है कि भगवान्को प्राप्त करना बड़ा कठिन है, यह भूल है; क्योंकि भगवान्से मनुष्यकी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है। उनको प्राप्त करना मनुष्यके लिये परम आवश्यक है। भगवान्के शरण होते ही भगवान् उसे तुरंत अपना लेते हैं। मनुष्यके अभिमानने ही उसे भगवान्से दूर कर रक्खा है। उसका त्याग कर देना चाहिये।

८५—साधकको भगवान्की इस महिमापर दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसुहृद्, परब्रह्म परमेश्वर, पतितपावन और दीनवत्सल हैं, हर एक प्राणी, चाहे वह कितना ही पापी, कितना ही नीच क्यों न हो, उसको अपनानेके लिये हर समय, हर जगह वे प्रस्तुत रहते हैं। यह विश्वास करके जो सब प्रकारसे एकमात्र भगवान्को ही अपना सर्वस्व मान लेता है, उसके मनमें शरणागतिका भाव जाग्रत् होता है।

८६—किसी प्रकारके गुणका और बलका अभिमान रहते हुए मनुष्य भगवान्के शरण नहीं हो पाता। अतः साधकको सब प्रकारके अभिमानका त्याग करके सर्वथा उनपर निर्भर हो जाना चाहिये। शरणागति अचूक शस्त्र है। इससे मनुष्यके सब दोष जलकर भस्म हो जाते हैं।

८७—भगवान्पर विश्वास और उनमें प्रेम स्वाभाविक होना चाहिये। किसी प्रकारका जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्नसाध्य वस्तु स्थायी नहीं होती। अतः साधकको चाहिये कि मन और बुद्धिको सब प्रकारसे भगवान्में लगा दे। भगवान्पर विश्वास न होनेके जितने भी कारण हैं, उनको खोज-खोजकर मिटा दे तथा अपने प्रभुपर विकल्परहित अचल विश्वास करे।

८८—आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पोंकी पूर्तिके सुखकी दासतासे, संकल्प-निवृत्तिकी शान्तिसे एवं असंगताद्वारा सम्पादित स्वाधीनतासे संतुष्ट न रहनेपर प्रेमकी अभिव्यक्ति अपने-आप होती है।

८९—सुखकी आसक्ति और कामनासे तथा दुःखके भयसे ही मनुष्य दूसरोंको दुःख देता है, उसके परिणामपर लक्ष्य नहीं रखता। अतः साधकको आसक्ति, कामना और भयका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

९०—अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर न तो उसमें हर्षित होना चाहिये, न ममता करनी चाहिये, न उसके बने रहनेकी कामना या आशा ही करनी चाहिये तथा उसका उपभोग भी नहीं करना चाहिये।

९१–प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर न तो उसकी निन्दा करनी चाहिये, न उससे द्वेष करना चाहिये, न उसमें दुखी होना चाहिये ।

९२–किसी भी परिस्थितिमें सुखके लोभसे या दुःखके भयसे विवेकका अनादर नहीं करना चाहिये । हर समय सावधान रहना चाहिये ।

९३–शरीरको अपना स्वरूप नहीं मानना चाहिये तथा उसमें ममता और आसक्ति भी नहीं करनी चाहिये । सर्वथा असंग रहना चाहिये ।

९४–सब प्रकारकी समस्त कामनाओंका अभाव होनेसे मन स्वाभाविक ही स्थिर और एकाग्र हो जाता है, उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता ।

९५–साधकको चाहिये कि भगवान्‌को हर समय याद रक्खे । किसी भी परिस्थितिमें भगवान्‌को कभी भी न भूले । इसके लिये नाम-जपका अभ्यास बहुत उपयोगी है ।

९६–किसी प्रकारके गुणका अभिमान और प्रदर्शन नहीं करना चाहिये । अभिमान करनेसे मनुष्यमें अनेक प्रकारके दोष आ जाते हैं तथा वह गुण भी दोषमें बदल जाता है ।

९७–शरीरसे असङ्ग होनेपर सुख-दुःखसे अतीत स्थिति प्राप्त हो जाती है । समस्त वासनाओंका नाश हो जाता है, उस स्थितिमें जो उसके शरीरद्वारा क्रिया होती है, वह साधनरूप होती है । उससे पूर्वके कर्म-संस्कारोंका नाश हो जाता है ।

९८–विश्वास और प्रेम मनमें नहीं होते । मन तो उनको प्रकाशित करनेवाला यन्त्र है ।

९९–विश्वास और प्रेम उसमें होते हैं, जो मनको भी प्रकाशित करता है । जैसे बल्बमें प्रकाश नहीं है, वह तो प्रकाशको प्राप्त करनेका यन्त्र है । प्रकाशका केन्द्र तो पावर-हाउसमें है ।

१००–जीनेकी आशा, पानेकी आशा, करनेकी आशा, भोगनेकी आशा—इन आशाओंने ही मनुष्यको ईश्वरसे दूर कर रक्खा है । अतः साधकको सब प्रकारकी आशाओंका त्याग कर देना चाहिये ।

१०१–आसक्ति और स्वार्थको लेकर जो प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, वह तो मोह है । वह प्रियता विभु नहीं होती, एकदेशीय होती है । उसमें राग-द्वेषका नाश नहीं होता । प्रेम तो वह है जिसमें स्वार्थ और विषमता नहीं रहती ।

१०२–सुख-दुःख कर्मका फल नहीं है । कर्मोंके फलके रूपमें तो परिस्थिति प्राप्त होती है । उसमें सुख और दुःख तो मनुष्यके भावानुसार होते हैं । विवेकी मनुष्य परिस्थितिसे अतीत जीवन प्राप्त करनेके लिये उनसे असंग हो जाता है ।

१०३–विवेकविरोधी कर्मके त्यागसे कर्तव्यपरायणता, विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करनेसे स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरोंसे असंगता तथा विवेकविरोधी विश्वासका त्याग करनेसे समस्त आसक्तियोंका नाश होकर प्रभु-प्रेमकी अभिव्यक्ति अपने-आप प्राप्त होती है । अतः इन तीनोंका त्याग परम आवश्यक है ।

१०४–मनुष्यकी माँग शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और अनन्त रसकी है । उसकी पूर्तिके लिये संकल्प-पूर्तिके सुखभोगका त्याग करना, संकल्प-निवृत्तिकी शान्तिमें रमण न करना, सामर्थ्यका दुरुपयोग न करना और प्रभुमें अनन्य प्रेम करना परम आवश्यक है ।

१०५–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जिसको पराजित न कर सके एवं सुख-दुःखका आक्रमण जिसपर अपना प्रभाव न कर सके, वही वीर और धीर है ।

१०६–धीर पुरुष अपने विरोधीपर विजय प्राप्त करके भी क्रोध न करके धैर्यपूर्वक कर्तव्यपालन करता है । उसपर हर्ष और शोक दोनों अपना प्रभाव नहीं डाल सकते ।

१०७–जिसका भाव, चरित्र, विश्वास, विवेक, संकल्प और पराक्रम सब-के-सब एक होकर जीवन बन गये हैं, वही वीर कहलाने योग्य है । ऐसा वीर एक दुर्बल मनुष्य भी बन सकता है । इस वीरताके लिये शारीरिक बलकी आवश्यकता नहीं है ।

१०८–सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेके लिये साधकको सच्ची अभिलाषाके साथ चेष्टा करते रहना चाहिये । ऐसा करनेसे सत्संगकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है, इसमें संदेह नहीं ।

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गतांक पृष्ठ ९२८ से आगे]

हमारी दक्षिण भारतकी तीर्थयात्राका प्रधान केन्द्र मद्रास ही था। विजयवाड़ासे मंगलगिरिमें पना-नृसिंहजीके दर्शनोपरान्त हमलोग सीधे मद्रास पहुँचे। यहाँ गोविन्ददासके भानजे भगवानदासजीके हम मेहमान थे। अपनी उत्तराखण्डकी गत यात्रामें हमारे यात्रा-दलमें बारह व्यक्ति थे। इस बार रत्नकुमारीके एकाएक रुक जानेके कारण दक्षिण भारतकी यात्रामें हमलोग ग्यारह रह गये। रत्नकुमारीको छोड़ ग्यारह वही यात्री थे, जो उत्तराखण्ड गये थे। मद्रास पहुँचते ही भगवानदासकी पत्नी श्रीमती प्रकाशवतीजी, जिनके हम अतिथि थे, मद्रासमें हमारे आतिथ्य-सत्कारके साथ हमारी यात्रा-साथिन भी हो गयीं और उनके साथ होते ही हमलोग पुनः उत्तराखण्डकी यात्राके सदृश बारह हो गये। मद्रासमें उनके यात्रापर रवाना होते ही भगवानदासजी बोले—'आपके आप जायँ साथ ले जायँ यजमान।' वाली कहावत आपने चरितार्थ की। उनका यह संकेत गोविन्ददासकी धर्मपत्नी और अपनी मामी गोदावरी देवीके प्रति था, जिनके स्नेहवश प्रकाशवती इस यात्रापर हमलोगोंके साथ जा सकीं।

मद्रास एक बन्दरगाह होनेके कारण भारतकी दक्षिण-पूर्वी सीमा निर्धारित करता है। इसका महत्त्व उसकी अनेक विशेषताओंके कारण और बढ़ गया है। यों तो सारा दक्षिण भारत ही मन्दिरोंकी प्रचुरताके कारण देवभूमि बना हुआ है किंतु मद्रासको मन्दिरोंका नगर नामसे पुकारा जाता है। यहाँके मन्दिर प्राचीन भारतीय संस्कृति, भवननिर्माण-कला एवं इंजीनियरिंग आदिकी अनेक विशेषताओंका प्रतिनिधित्व करते हैं। कर्नाटक संगीत तथा भारत नाट्यम्का उत्कर्ष यहीं हुआ। द्रविड़ सभ्यता, जिसकी छाप हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ोपर भी पायी गयी है, यहींपर फूली-फली।

यहाँके मन्दिरोंमें केवल निर्माण-कलाका ही चमत्कार नहीं, अपितु इनमें दक्षिण भारतकी जनताका जीवन तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। मन्दिरोंके चारों ओर आप मद्रासके आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवनके प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। मद्रासमें आप कहीं भी चले जाइये, हर आबादीके केन्द्रमें आप मन्दिर पायेंगे, जिनमें आपको इस क्षेत्रकी सभ्यता तथा कला पराकाष्ठाको पहुँची हुई स्पष्ट प्रतिबिम्बित होगी। यहाँ एक अजायबघर भी है, जिसमें ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्वकी अनेक दुर्लभ वस्तुओंका एक सुन्दर संग्रह है।

सांस्कृतिक महत्त्वके बाद हमारी दृष्टि इसकी भौगोलिक विशेषताओंकी ओर जाती है। बम्बई और कलकत्ताके बाद मद्रास भारतका तीसरा सबसे बड़ा नगर है। इसका क्षेत्रफल ५५ वर्गमील और जनसंख्या लगभग २० लाख है। मद्रासको दक्षिण भारतका प्रवेशद्वार कहा गया है। यहाँसे दक्षिण भारतके किसी भी नगरको पहुँचा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उत्तर भारतके अनेक महत्त्वपूर्ण नगरोंको यहाँसे वायुयान तथा रेलगाड़ियाँ भी जाती हैं।

मद्रासके ऐतिहासिक महत्त्वपर दृष्टिपात करनेपर हमारा ध्यान १५०० वीं सदीके उस समयकी ओर चला जाता है, जब पुर्तगालियोंने मायलापुरके केन्द्रमें एक फैक्टरी तथा सेंट थामसकी २०० वर्ष पुरानी कब्रपर एक रोमन कैथोलिक चर्चका निर्माण किया था।

मद्रासके प्रमुख आकर्षण हैं—सेंट जार्जका किला, सेंट मेरीका चर्च व प्रकाश-स्तम्भ। सेंट मेरीका चर्च संसारके पूर्वी देशोंका सर्वप्रथम प्रोटस्टेंट चर्च है। यहाँका प्रकाश-स्तम्भ १६० फुट ऊँचा है जिसपरसे सम्पूर्ण मद्रास नगरपर सरसरी निगाह डाली जा सकती है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय-भवन, राष्ट्रीय आर्ट गेलरी, अजायबघर, चिड़ियाघर, प्रयोगशालाएँ तथा स्थानीय उद्यान भी पर्यटकोंकी दृष्टिको सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। इसके साथ ही यहाँका सचिवालय-भवन, विधान-सभा-भवन तथा कई बड़े-बड़े सरकारी कार्यालय भी दर्शनीय हैं।

मद्रासका प्रमुखतम व्यापारिक केन्द्र माउण्टरोड नगरके ठीक बीचोंबीच स्थित है। माउण्टरोडके दोनों किनारोंपर बड़ी-बड़ी दूकानें, वैभवपूर्ण होटल तथा सार्वजनिक मनोरंजनके अनेक महत्त्वपूर्ण स्थल हमारे सामने आते हैं। गवर्नमेंट ऐस्टेट तथा चिल्ड्रन थियेटर भी इसी सड़कपर स्थित है। जार्जटाउन भी मद्रासका एक प्रमुख व्यापारिक

केन्द्र है जो घनी आबादीके बीच बसा है। मद्रास अब तेजीके साथ एक औद्योगिक नगरके रूपमें परिवर्तित होता जा रहा है। डनलप टायर, हरकुलीज साइकिल तथा स्टील ट्यूबकी यहाँ बड़ी-बड़ी फैक्टरियाँ खुल गयी हैं। पैराम्बुरमें कर्नाटक तथा बकिंघम मिलें भी दर्शनीय हैं।

मद्रासकी इस धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं औद्योगिक गरिमाका अवलोकन करने यहाँ प्रतिवर्ष सहस्रों पर्यटक आते हैं। यहाँ प्रत्येक स्तरके पर्यटकोंके लिये आवास तथा भोजनकी भी सुन्दर व्यवस्था है। कोनेमरा, दसप्रकाश, एयर लाइन्स एवं बुललैण्ड आदि यहाँके प्रसिद्ध होटल हैं जो आधुनिक सुख-सुविधासे पूर्ण तथा जिनमें प्रति कमरा साढ़े दस रुपयेसे लेकर पैंसठ रुपये प्रतिदिनके हिसाबसे उपलब्ध हो सकता है।

मद्रासका वर्णन तबतक अपूर्ण होगा जबतक इसकी नदियों एवं जलमार्गोंका वर्णन नहीं किया जाता। कोडम नदी मद्रासको दो भागोंमें विभाजित करती है। यह नगरके पश्चिमी छोरसे प्रविष्ट होती है और सेंट जार्ज किलेके सामने समाप्त हो जाती है। इसके तीन मील दक्षिणमें आड्यार नदी है जो आगे चलकर बंगालकी खाड़ीमें मिल जाती है। बकिंघम नहर उत्तरी क्षेत्रमें बहती कृष्णा नदीको दक्षिणके पांडिचेरी क्षेत्रसे मिलाती है। इस नहरमें भारतमें बने जहाजी बेड़े तथा आधुनिकतम जलयान खाद्यपदार्थों तथा अन्य अनेक वस्तुओंको लेकर एक स्थानसे दूसरे स्थानकी ओर जाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

मद्रासका प्रमुख बन्दरगाह मरीना संसारका दूसरे नम्बरका सबसे लम्बा समुद्रतट माना जाता है। विशाल और विस्तीर्ण फैले सिंधुका यह विशाल और विस्तीर्ण तट सचमुच ही बड़ा सुहावना और मनोरम है। बम्बईके गेटवे आफ इण्डिया, महालक्ष्मी और चौपाटी समुद्रतटोंकी भाँति यहाँ भी प्रतिदिन सहस्रों नर-नारी सिन्धु-सम्पर्कका सुख उठाते हैं। दूर-दूरतक नीलाकाश और उसके नीचे नीलिमा लिये लहराता सिंधु सूर्यास्तके सुनहरे प्रकाशमें जब अपनी आभासे ज्योतिर्मय होता है, जान पड़ता है धरती और गगनके बीच केवल यही एक जलधि है जो चेतन जगत्का जीवनदाता है। हमलोगोंने भी मद्रासके इस मरीना समुद्रतटपर कुछ देर बैठकर यहाँ सिन्धुसे सम्पर्क साधा। सुदूर फैला सिन्धु और विस्तीर्ण क्षेत्रमें फैला रेतीला समुद्रतट, जिसमें बैठे सहस्रों नर-नारी प्रकृतिके इस वैभवका जब रसास्वादन करते हैं तो जान पड़ता है प्रकृतिकी प्रधान रचना मानवके सुखोपभोग, सेवा और सत्कारके लिये ही मानो प्रकृतिने शेष सृष्टिकी रचना की हो। कितनी विशाल, कितनी उदार और कितनी मोहक देन है यह प्रकृतिकी और कितना महान्, कितना पराक्रमी और कितना बड़भागी है प्रकृतिका पुजारी यह मानव जो ईश्वर और उसकी मायाके सदृश प्रकृतिप्रसूत इस जड-जंगम जगत्से केलि-क्रीड़ा करता है।

मरीनाके इस समुद्रतटपर हमलोगोंने सिन्धु और उसके तटके सहयोगी भावके प्रतीक नारियलके डाब लिये और इस मिष्ट-मधुर फलका रसास्वादन कर मरीनाके इस समुद्रतटसे विदा ली। इसके किनारे क्वीन मेरी कालेज, प्रेजीडेंसी कालेज, विश्वविद्यालय-भवन एवं सीनेट हाउस आदि भी अवस्थित हैं। 'आइस हाउस' भी इसीके तटपर स्थित है, जिसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके जमानेमें अंग्रेज सौदागरोंके प्रयोगके लिये उत्तरी अमेरिकासे बर्फ मँगाकर एकत्रित की जाती थी।

इसके अतिरिक्त मद्रासकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो इसे एक वैभवपूर्ण एवं साधनसम्पन्न नगरका रूप प्रदान करती हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कर्मचारियोंद्वारा बनाये गये मकानोंके अतिरिक्त यहाँ गाँधीनगर-जैसी आधुनिकतम कालोनियाँ भी हैं। जगत्प्रसिद्ध 'थियोसोफिकल सोसाइटी'का प्रधान कार्यालय यहीं है। यहाँके विख्यात पुस्तकालयमें दर्शनशास्त्र, साहित्य, विज्ञान आदि विषयोंसे सम्बन्धित अनेक दुर्लभ ग्रन्थों एवं प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंका सुन्दर संग्रह है। आड्यारमें श्रीमती रुक्मिणी देवीने एक 'कलाक्षेत्र' की स्थापना की है जिसमें भारतीय नृत्य एवं संगीतकी शिक्षा दी जाती है।

इस प्रकारकी साधनसम्पन्न एवं आधुनिक नगरी मद्रास-में ऐतिहासिक महत्त्वके भी अनेक स्थल हैं। यहींके एक बागमें डा० एनी बीसेंट एवं कर्नल ओकाटको दफनाया गया था। सेंट जार्ज किलेमें अवस्थित एक चर्चमें सन् १७५३ में रावर्ट क्लाइवने मार्गरेट मैस्किलिनसे विवाह किया था। इसी किलेमें मद्रासके ६ ब्रिटिश गवर्नरों तथा पादरी श्वार्ट्ज़की कब्रें हैं।

१७वीं सदीके प्रारम्भमें ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनीने मसूलीपट्टमको अपना व्यापारिक केन्द्र बनाया। कम्पनीकी मसूलीपट्टम काउंसिलके एक सदस्य फ्रांसिस डे सन् १६३९

में मद्रासपट्टम आकर बस गया। जहाँ अंग्रेजोंने अपनी प्रथम फैक्टरी तथा किलेका निर्माण किया। यह वर्तमान मद्रास नगरका उत्तरी भाग है। सेंट जार्ज किलेके निर्माणमें १४ वर्ष लगे और यह सन् १६५३ में बनकर तैयार हुआ। मद्रास नगर निगमकी स्थापना भी १७ वीं शताब्दीमें हुई।

निष्कर्षरूपमें मद्रास नगर भारतकी प्राचीन सभ्यता एवं इतिहासकी एक सजीव झाँकी है। इसमें मन्दिरों, गिरजाघरों तथा कब्रोंकी एक अटूट श्रृङ्खला है जिनका एक-एक पत्थर धुँधले अतीतकी याद दिलाता है।

यहाँकी जलवायु वर्षभर गरम किंतु स्वास्थ्योपयोगी है। समुद्र-स्नान स्थानीय लोगों तथा नवागन्तुकों—दोनोंके आकर्षण तथा रुचिका केन्द्र है। आड्यार एवं समुद्र-तटपर जनताकी इस रुचिको पूरा करनेके लिये कुछ बोटिंग क्लब भी स्थापित किये गये हैं। क्रीडा-प्रेमियोंके लिये रेसकोर्स मैदान, गोल्फ कोर्स मैदान तथा अनेक प्रकारके स्टेडियमकी भी व्यवस्था है।

इस प्रकार दक्षिण भारतके इस प्रवेशद्वार मद्रासकी ओर भारत तथा संसारके अन्य देशोंके पर्यटकोंका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। यह दिल्लीसे १३६१ मील, कलकत्तासे १०३२ मील तथा बम्बईसे ७९४ मील दूर है। सरकारने भी पर्यटकोंकी सुविधाके लिये कुछ कम कार्य नहीं किया। मद्रास जानेके लिये वायु तथा रेलसेवाकी सुन्दर व्यवस्था है। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा श्रीलंकासे विमानद्वारा मद्रास अब कुछ ही घंटोंमें पहुँचा जा सकता है। माउण्टरोडपर पर्यटक-सूचना-कार्यालय, वायु-सेवाके अनेक टिकिट-घर तथा टूरिस्ट एजेंसियाँ हैं।

लगभग चौवीस घंटे मद्रासमें मुकाम कर दूसरे दिन लगभग दो बजे मोटर बसद्वारा बालाजीके लिये रवाना हुए। रेलकी अपेक्षा बसकी यात्रामें भौगोलिक और सामाजिक दोनों ही निरीक्षण कुछ अधिक होते हैं। मद्रास तामिलनाडमें है और बालाजी आन्ध्र प्रदेशमें। दक्षिण भारतके इन दो विभिन्न प्रदेशोंकी भौगोलिक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं है और न यहाँके मानवोंके रूप-स्वरूप वेश-भूषा आदिमें। अन्तर केवल भाषाका है और इस अन्तरने समान भौगोलिक स्थिति रहते हुए भी तथा दोनों क्षेत्रोंमें एक ही द्रविड़ जातिके निवासी होनेपर भी दो राज्योंका निर्माण कर दिया। यहाँतक कि तामिलनाडके निवासियों और आन्ध्रप्रदेशके निवासियोंके आपसी सम्बन्धतक प्रेमपूर्ण नहीं। जो भाषा मानवको सच्चा मानव बनाती है, उस भाषाभेदसे कभी-कभी कैसी विलक्षण स्थिति उत्पन्न हो जाती है!

मद्राससे बालाजीके मार्गमें हमने दक्षिण भारतके देहाती क्षेत्रके समाजका निरीक्षण किया। मार्गमें हमें अनेक कस्बे और गाँव मिले। हमने यहाँकी खेती देखी और विकासके उस समयके कुछ सरकारी काम। साथ ही यहाँका प्राकृतिक सौन्दर्य भी।

बालाजीके लिये तिरुपतिमें बस बदलनी पड़ती है। हमलोग तिरुपतिमें बस बदल बालाजीके लिये साढ़े सात बजे संध्याको रवाना हुए। 'तिरुपति' तमिल भाषाका शब्द है। 'तिरु'का मतलब 'श्री' है और पतिका मतलब 'प्रभु'। इस प्रकार 'श्रीप्रभु' यानी श्रीमहाविष्णु हुआ। 'तिरुमलै'का अर्थ श्रीपर्वत है। यानी वह पर्वत जिसपर भगवान् श्रीविष्णु लक्ष्मीके साथ विराजमान हैं।

विद्यानां वेदविद्येव मन्त्राणां प्रणवो यथा।
प्राणवत्प्रियवस्तूनां धेनूनां कामधेनुवत्॥
तथा वेंकटशैलेन्द्रः क्षेत्राणामुत्तमोत्तमः॥

जिस तरह सब विद्याओंमें वेदविद्या, मन्त्रोंमें प्रणव, प्रिय वस्तुओंमें प्राण और गायोंमें कामधेनु उत्तम हैं, उसी तरह सब पुण्य क्षेत्रोंमें वेंकटाचल क्षेत्र उत्तमोत्तम है। जिस पहाड़पर भगवान् वेंकटेश्वरका मन्दिर है उसीको वेंकटाचल कहते हैं।

दक्षिण भारतमें आन्ध्र राज्यके चित्तूर जिलेमें तिरुपतिसे बारह मील २८०० फुट ऊँचे 'तिरुमलै' नामक पर्वतपर श्रीवेंकटेश्वर बालाजीका विशाल मन्दिर है। तिरुपतिसे बालाजी जानेके लिये दो रास्ते हैं, एक पुराना पगडंडीवाला सात मील पैदलका, इस रास्ते सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए जाना पड़ता है। निर्बल, बूढ़े और बच्चोंके लिये यह कष्टतर है। पुराने जमानेमें ऐसे लोग डंडियों, डोलियोंपर बैठकर इस रास्ते आया-जाया करते थे। वर्तमानमें एक दूसरा मोटर-मार्ग लगभग बीस लाख रुपयेकी लागतसे श्रीबालाजी-मन्दिर-कमेटीने बनवा दिया है जिससे यातायात सुगम हो गया है। किंतु यह बारह मील अधिकतर मोड़दार और चढ़ाईवाला मार्ग है। इस मार्गपर रवाना होते ही गोविन्ददासको सन् १९१६ का समय याद आया जब वे अपने माता-पिताके साथ बालाजी आये थे। उस समय मोटरका मार्ग न होकर पैदल मार्ग ही था। इस मार्गपर लोग पैदल चलते थे और

डोलीपर भी। इस समयकी एक घटनाका उन्हें स्मरण हो आया। जब गोविन्ददास अपने माता-पिताके साथ पैदल मार्गद्वारा बालाजी जा रहे थे तो डोलियोंकी व्यवस्था थी और मार्गमें बीच-बीचमें इन डोलीवालोंको दही पिलाया गया था, कदाचित् भारवाहकोंके मार्ग-श्रम-निवारणके लिये। अब मोटर-यातायातकी व्यवस्था हो जानेसे पैदल कौन जाना चाहेगा!

हमारी यात्रा-टोली तिरुपतिसे सायंकाल मोटर बसद्वारा 'तिरुमलै' के लिये रवाना हुई। लगातार चढ़ाईवाला मार्ग, फिर अत्यन्त घुमावदार। कुछ देरतक तो हम इस सर्पाकार लहराते पथ और उसके निकट नीचे खाई-खंदकोंको देख सके। किंतु थोड़ी ही देरमें हमारे आसपास सघन अँधेरा छा गया। इस गहन अन्धकारमें हमें कुछ अजीब और आकर्षक दृश्य दिखे। ज्यों ही हमारी मोटर मोड़पर चलती हुई मुड़कर इतनी लौट जाती कि पीछे छोड़ा हुआ तिरुपति नगर जो अब काफी निचाईपर था, विद्युत्-प्रकाशमें एक अपूर्व आभासे आलोकित हमारी दृष्टिके सम्मुख आया जान पड़ता। जैसे कोई नक्षत्र-लोक हो या किसी झीलमें मुक्तामणि भरे हों, अथवा अन्तरिक्षसे नक्षत्र उतरकर तैर रहे हों। विद्युत्-प्रकाशसे रत्नद्वीपों-सा जगमगा रहा था तिरुपति नगरका सारा दृश्य। दूसरी ओर मोटरमार्गकी बायीं ओरका पगडंडीवाला पैदल पथ जो बिजलीके प्रकाशसे युक्त था, सर्पाकार लहराता पहाड़की चोटीको जाता हुआ ऐसा दीखता जैसे पर्वतपर पंक्तिबद्ध संजीवनी बूटीकी पौध लगी हो। हम अपनी मोटरकी खिड़कीसे नीचे कभी तिरुपति नगरकी शोभा देखते, कभी इस ऊँचाईकी ओर जानेवाले पगडंडीवाले मार्गको। इसी बीच जोरकी वर्षा होने लगी। फिर क्या पूछना था, सारा दृश्य मनोहारी हो गया। मोटर-पथमें पल-पल पड़ते मोड़ोंसे यह दृश्य देखते पुलक-गात और प्रफुल्ल-मन जान पड़ा। पल मारते ही हमारी मोटर बालाजीके बस स्टैंडपर आ लगी। ८ सितम्बरको लगभग ९ बजे रात्रिमें हमने तिरुमलैकी पवित्र भूमिका स्पर्श किया।

बालाजीके बस-स्टैण्डपर पहुँचते ही हमने अपने बालाजी प्रवास कालके लिये प्रवासगृह आदि बातोंके लिये पूछ-ताछ की। मद्राससे ही हमने तार देकर अपने ठहरने आदिकी आवश्यक बातोंके लिये मन्दिर-कमेटीको लिख दिया था। तदनुसार एक अच्छे साफ सुन्दर स्थानकी व्यवस्था भी हो गयी। बस स्टैण्डसे हमलोग अपने मुकामके लिये, जहाँ हमें ठहरना था, रवाना हुए। इसी बीच हमारे साथ एक अद्भुत घटना घट गयी।

कुली सामान लेकर जा रहे थे, उनके साथ गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव पहले रवाना हुए। गोविन्ददास मन्दिर-कमेटीके पूछताछ दफ्तरमें कुछ जानकारी ले रहे थे। इसी समय गोविन्ददासकी पत्नी गोदावरी देवी और गोविन्ददासके भानजे भगवानदासकी पत्नी श्रीमती प्रकाशवती देवी, जो मद्राससे हमारे साथ हो गयी थीं, ये दोनों महिलाएँ बस-स्टैण्डसे गायब हो गयीं। गोविन्ददासकी भावज नारायणी देवीको एक डोलीमें बिठा दलके अन्य नौकर मुकाम स्थानपर ले गये। जब गोविन्ददास अपने मुकामपर पहुँचे तो अपनी पत्नीको वहाँ न देख साथवालोंसे पूछताछ की। दलके सभी सदस्य सिवा उक्त दोनों महिलाओंके अपने अड्डेपर उपस्थित थे। गोविन्ददासकी हैरानी बढ़ी। अतः वे अपनी पत्नीको खोजने निकल पड़े। रात्रिका समय, स्थान अपरिचित और न जाने क्या-क्या बातें हमलोगोंके दिमागमें आतीं। एक ओर गोविन्ददास, दूसरी ओर गोविन्दप्रसाद, तीसरी ओर गुरुप्रसाद रसोइया और चौथी ओर गोदावरीदेवीकी परिचारिका श्यामा—गोदावरीदेवीको खोजने चल पड़े। यद्यपि कोई विकट वन नहीं था, तथापि सघन बस्ती थी, फिर तीर्थयात्रियोंकी भीड़। वनमें तो केवल भूलने-भटकनेका भय रहता है, साथ ही हिंसक वनचरोंका भी, किंतु किसी अपरिचित स्थानमें, जहाँ अपना कोई नहीं; सभी पराये हों, चौपद पशुकी अपेक्षा द्विपदधारी मानवका भय अधिक बेहाल बना देता है। अतः नाना आशंकाओं-भरे हृदयसे उक्त चार व्यक्ति बालाजी नगरके आम पथोंमें ही नहीं, गलियों-कूचोंमें घुस पड़े। गोविन्दप्रसादने अपने अतिरिक्त बालाजीके पंडा, जो मोटर स्टैण्डपर हमसे मिल चुके थे, उन्हें तथा उनके अतिरिक्त उन भारवाहकोंको जो सामान लेकर आये थे तथा कुछ और आदमियोंको इन महिलाओंकी खोजके लिये भेज दिया। पर पता किसीको न लगा। इस समय गोविन्ददासकी मनःस्थिति और अस्त-व्यस्त शारीरिक दशा देखते ही बनती थी। राह चलते हर व्यक्तिसे पुरुषों और महिलाओंसे, बालकों और वृद्धोंसे वे अपना परिचय दे, अपनी पत्नीका आकार-आकृति बता पता पूछते। हर व्यक्तिसे 'ना' में उत्तर पा हताश हो आगे बढ़ते और आगे मिलनेवालेसे फिर वही प्रश्न करते। गोविन्ददासकी यह दशा देख वनवासकालमें

भगवान् रामका सीता-विरह स्मरण हो आया, जब वे—

'पूछत चले लता तरु पाती'

तथा—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना।
मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥

—आदिसे पूछते विरह-व्यथामें व्याकुल बावरे बने वनमें भटक रहे थे। उस कालमें लता-पात और वनचर मनुष्यसे बात करते थे। यही नहीं, किंतु गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् रामकी एक साधारण नरकी भाँति नारी-विरहमें जो अवस्था थी, उसका चित्रण किया है। आगे जब वे—

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।
प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।
मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

—इन शब्दोंमें रामकी मनोदशाका चित्रण करते हैं। तब तो नारी-विरह-वर्णन पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। जब एक अवतारी अथवा अवतारी नहीं तो एक नर-नाहर क्षत्रिय राजकुमारकी पत्नी-वियोगमें यह मनःस्थिति हो जाती है तो एक साधारण गृहस्थकी क्या अवस्था होगी, इसका सहज अंदाज लग जाता है। गोविन्ददास अपनी पत्नी गोदावरी देवीके बालाजी-प्रवेशके साथ ही इस तरह गायब होनेपर हैरान थे।

विचित्र संयोगकी बात थी। उत्तराखण्डकी यात्रामें इसी प्रकारकी एक घटना जब हमलोग बदरीनाथपुरीके लिये पीपलकोटीसे कुमारचट्टीकी ओर जा रहे थे तो हमारे दलकी दो महिलाओं, एक गोविन्ददासके सदर मुनीमकी पत्नी, दूसरी गोदावरी देवीकी परिचारिका श्यामाके बिलगावकी घटित हुई थी। वह घटना उस वक्त घटी जब हमलोग अपनी चारों धामों यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ—तीन धामोंकी यात्रा समाप्त कर चौथे और अन्तिम बदरीनाथ धामको जा रहे थे। आजकी यह घटना हमारे यात्रा-कार्यक्रमके प्रथम धाममें प्रवेशके साथ ही घटी। 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' वाली उक्तिके अनुसार आज हम सभी भयग्रस्त और दुःखकातर थे। गोदावरी देवीको इस प्रकार बस-स्टैण्डपर बिना अपने दलके किसी पुरुषके संरक्षणमें छोड़े सबका अपने मुकामपर चले आना एक अनुचित बात तो थी, इसके साथ ही एक ऐसी अनहोनी और अनिष्टकारक घटनाका कारण भी हुई जिसपर सभी एक-दूसरेपर कुपित थे। पर इस परस्परके कोपमें सभीके दिलोंमें जो कसक और पीड़ा थी, वह भी बड़ी मार्मिक थी। गोविन्ददास व्याकुल थे तो बाकी सभी मोह-ग्रस्त। परिचारिका श्यामाकी अपनी मालकिनके वियोगमें विचित्र दशा थी। ऐसे ही अवसरोंपर अपने स्वामीके प्रति सेवकका अनुराग अनुभवमें आता है। इस भटक और खोजमें लगभग डेढ़ घंटा हम सभी हैरान हुए, क्या-क्या किया गया। पुलिस-थानेमें रिपोर्ट की गयी। लाउड-स्पीकरसे ऐलान कराया गया और अन्तमें दोनों महिलाएँ जब मिलीं तो अनायास ही। गोविन्ददास और उनकी पत्नी गोदावरी देवीका यह मिलन भी एक नाटकीय दृश्य था। श्यामा अपनी मालकिनको अपने बड़े-बड़े ललचाये लोचनोंसे घूर रही थी और हम सब कृतज्ञ-भावसे प्रभुको धन्यवाद दे रहे थे। पूछनेपर मालूम हुआ मन्दिरके पट खुले थे, अतः भक्तिमयी ये देवियाँ प्रभु-दर्शनकी लालसामें मन्दिर चली गयीं। जब हमलोगोंने इन्हें मन्दिरमें देखा तो ये वहाँसे रवाना हो चुकी थीं। तात्पर्य यह कि भगवान् तो अन्तर्धान होते ही हैं यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं, उनके भक्त भी अन्तर्धान हो जाते हैं। यह आज हमारे लिये आश्चर्य और असमंजसके साथ ही एक असाधारण अनुभव था।

पौराणिक एवं ऐतिहासिक तथ्योंसे स्पष्ट है कि वेंकटेश्वर बालाजीका यह मन्दिर बहुत प्राचीन है। अतीतकालमें राजा-महाराजाओंमें स्वर्ण-रजतके बहुमूल्य आभूषणों, वस्तु-वाहनों तथा प्रचुर द्रव्यकी भेंटसे इस मन्दिरको समृद्ध किया गया है। इन दानदाताओंमें चोलवंश, पांड्य राजाओं तथा विजयनगर साम्राज्यके प्रसिद्ध सम्राट् श्रीकृष्णदेवराय और उनकी पत्नी तिरुमलदेवी तथा चिम्मनदेवीका योग विशेष उल्लेखनीय है। इसके साथ ही महाराष्ट्र, मैसूर और गढवाल-के राजाओंने भी बहुमूल्य भेंटोंसे मन्दिरको अलंकृत किया। श्रीकृष्णदेवराय और उनकी पत्नी तिरुमल देवी तथा चिम्मन देवीकी तो इस मन्दिरके प्रथम प्राकारके भीतर दरवाजेके बगलमें मूर्तियाँ भी रक्खी हैं जो उनके जीवनकालमें ही प्रतिष्ठित हो गयी थीं। दक्षिणके अन्य मन्दिरोंकी तरह विशाल गोपुरों, शिखरोंसे युक्त श्रीबालाजीका यह मन्दिर भी अपने

आकार-प्रकारमें विशाल है। फिर केवल अपने आकार-प्रकारमें ही नहीं, अपितु श्रद्धा, भक्ति, मनौती और उसकी सिद्धिकी दृष्टिसे भी श्रीबालाजीका मन्दिर सारे देशमें विख्यात है। श्रद्धा और भक्तिपूर्ण हृदयसे यहाँ की गयी मनौतियाँ अवश्य पूरी होती हैं। कुछ सफल परिणाम हमने स्वयं अपने मित्रोंके इन मनौतियोंके सम्बन्धमें देखे हैं। भारतवर्षके चार धामोंमें दक्षिणका धाम रामेश्वरम् है, तथापि अपनी इन विशेषताओंके लिये श्रीबालाजीका मन्दिर सारे भारतमें बेजोड़ है। फिर वैभव और समृद्धिकी दृष्टिसे भी शायद देशके सभी मन्दिरोंमें यह अग्रणी है। इसके स्वर्ण-मण्डित गरुड़-स्तम्भ और शिखर प्रभातकी रवि-रश्मियोंमें और निशाके विद्युत्-प्रकाशमें जब अपनी पूर्ण आभासे दमकते हैं तो सोनेकी द्वारकाकी साकार कल्पना मस्तिष्कमें उतर आती है। फिर मन्दिरकी सारी व्यवस्थाके साथ ही यहाँकी पूजा-विधि भी अत्युच्च कोटिकी एवं बड़ी भक्तिभाव-वर्द्धक है। बदरीनाथकी भाँति मन्दिरमें दक्षिणी ब्राह्मण, जो यहाँके पुजारी होते हैं, बड़ी सुव्यवस्था और शुचितापूर्ण ढंगसे भगवत्सेवाके विविध अङ्गोंको पूरा करते हैं। मन्दिरके मध्यमें स्थित देवमूर्तिके सामने सहस्रोंकी संख्यामें कतारबद्ध नर-नारी इस पूजादर्शनका लाभ उठा अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। बालाजीमें दर्शनार्थियोंकी जैसी भीड़ हमने देखी, वैसी भारतके किसी अन्य देवमन्दिरमें नहीं। (क्रमशः)

धर्म-अधर्मके हिस्सेदार

(लेखक—ठाकुर श्रीसुदर्शनसिंहजी)

विश्वमें आप अकेले नहीं रहते हैं। कहीं किसी एकान्त-में जाकर भी आप एकाकी नहीं होते हैं। प्रकृतिके अविराम चलनेवाले विनिमयकी धारामें व्यक्तिकी कोई सत्ता नहीं है। परमाणुओंकी धारा प्रवाहित हो रही है। उसमें आपका शरीर पानीकी धारामें बननेवाले आवर्तकी आकृतिके समान है। हम-आप श्वास लेते हैं, कहाँ? उस वायुमें जो दूसरे सबके श्वाससे भरी है। यही अवस्था जलकी है। आपके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार, प्रत्येक चेष्टाका कम्पन सम्पूर्ण विश्वमें व्यापक हो रहा है।

जब हमारा स्थूल अस्तित्व ही अपने आपमें स्वतन्त्र नहीं है, हमारी क्रिया अपनेतक कैसे सीमित रह सकती है? हम किसी स्थानपर, किसी देशमें, किसी कालमें क्रिया करते हैं। वह क्रिया हमारे अनजानमें भी अनेकोंके सहयोग-की अपेक्षा करती है। एक व्यक्ति चाकूसे किसीपर चोट करता है। चाकूका लोहा खदानसे निकला, कारखाने गया, चाकू बना, बिका, यहाँतक सहस्रों व्यक्ति हैं उसे प्रस्तुत करनेमें। चाकूमें लकड़ीकी मूठ है और चाकू बनानेवालेका जीवन है। उस जीवनके उत्पन्न करने, पालन करने, अन्न-वस्त्र उपलब्ध करने, रोगोंसे बचाने, शिक्षा देनेमें सहस्रों व्यक्तियोंका योग है। इस प्रकार कोई कार्य अपने-आपमें स्वतन्त्र नहीं है। कर्मशास्त्रका कहना है कि पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, वन, धातुएँ, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारे, वायु आदि सब तत्त्व जीवों-के समष्टि-प्रारब्धसे निर्मित होते हैं।

कर्मका समष्टिपर प्रभाव तथा कर्ममें समष्टिका योग एक प्रत्यक्ष तथ्य है। इनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यहाँ समष्टिके भागकी बात मैं नहीं करूँगा। व्यक्ति जो धर्म या अधर्म करता है, उसमें मुख्य-मुख्य हिस्सेदार कौन-कौन होते हैं, केवल यह बात यहाँ करनी है। आप धर्म करते हों या अधर्म, उसका बड़ा भाग किनको मिलता है—मिल सकता है, यह जान लेना इसलिये भी लाभदायक है कि अज्ञानके कारण हम अन्योंके पापकर्ममें भागीदार होनेसे बचे रहें। साथ ही अनायास मिलते शुभ-कर्मके भागसे वञ्चित न हो जायँ।

पति-पत्नी—कर्मका मुख्य दायित्व उसके कर्तापर ही होता है। लेकिन पत्नी पतिकी अर्धाङ्गिनी मानी जाती है। इसलिये पतिके धर्म-अधर्ममें पत्नीका तथा पत्नीके धर्म-अधर्म-में पतिका बड़ा भाग होता है। साध्वी पत्नीके पुण्यबलसे पतित पतिका भी उद्धार हो जाता है, यह बात पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर आयी है।

पिता-पुत्र—जैसे पिताकी सम्पत्ति तथा ऋणका भुगतान पुत्रको भोगना या देना पड़ता है, वैसे ही पिताके धर्म-अधर्मका शुभाशुभ प्रभाव भी उसकी संततिको प्राप्त होता

है। पुत्रका किया श्राद्ध ही पिताको नहीं प्राप्त होता, पुत्रके किये धर्म-अधर्मसे भी पिता प्रभावित होता है।

त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।

भगवान् नृसिंहने प्रह्लादसे यह बात कही थी। भक्तिसूत्र-में तथा पुराणोंमें अन्यत्र भी आता है कि भगवद्भक्तके उत्पन्न होनेसे उस कुलके पितरोंका उद्धार हो जाता है।

तीन कुल सात पीढ़ियाँ—श्राद्धमें पिता, पितामह, प्रपितामह तथा वृद्धप्रपितामहको पितृकुलमें तथा इसी प्रकार चार पीढ़ियोंको मातृपक्षमें पिण्डदान किया जाता है। भगवान् नृसिंहने 'त्रिसप्तभिः' कहकर बतलाया कि माता-पिता तथा पत्नीके (स्त्री हो तो पतिके) कुलकी सात-सात पीढ़ियाँ भक्तके प्रभावसे पवित्र हो जाती हैं। इसका अर्थ हुआ कि भगवद्भक्त, ज्ञानी तथा उत्कट धर्मात्माके कर्म अपनेसे सम्बन्धित इन तीनों कुलोंके सात पूर्वजोंको पवित्र बना देते हैं।

शासक-प्रजा—जिसके शासनमें रहकर प्रजा धर्म या अधर्म करती है, उस शासकको प्रजाके धर्म-अधर्मका भाग मिलता है। सम्पत्तिके षष्ठांश तथा धर्माधर्मके दशांशका भागी शासक है। इसी प्रकार शासकके धर्म अथवा अधर्म-का फल प्रजाको भी प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें कथा है कि द्वारकामें एक ब्राह्मणका पुत्र जन्मते ही मर जाता था तो वह राजद्वारपर पुत्रका शव रखकर पुकारता था—'शासकके कर्मदोषसे ही मेरा पुत्र मरा है।' ऐसी और भी कथाएँ पुराणोंमें मिलती हैं।

भूमिपाल—जिसकी भूमिपर कोई शुभ अथवा अशुभ कर्म किया जाता है, उस भूमिका स्वामी उस कर्ताके कर्मका भागी अवश्य होता है। इसलिये पहले पुण्यात्माजन अपनी भूमिपर ही यज्ञ-दानादि करते थे। तीर्थोंमें यात्रियोंके ठहरने तथा सुख-सुविधाकी व्यवस्था भी इसीलिये करते थे।

गुरु-शिष्य—जैसे पुत्र अपने पिताकी बिन्दु-संतान है, वैसे ही शिष्य अपने गुरुकी नाद-संतान है। इसलिये गुरुके सत्कर्म—तप आदिका फल शिष्यको मिलता है। शिष्यके पुण्य अथवा पापका भागी गुरुको भी होना पड़ता है। बहुत-से विचारवान् धर्मज्ञ इसीलिये किसीको भी मन्त्र देकर शिष्य ही नहीं बनाते। जैसे शिष्यके लिये योग्य गुरुका अन्वेषण कर्तव्य है, गुरुको भी वैसे ही सत्पात्रको ही शिष्य बनाना चाहिये।

आश्रयदाता—किसी भी पुण्य अथवा पापकर्मको जिसने आश्रय दिया है, वह उसके पाप-पुण्यका भाग पाता है। लेकिन मनुष्य जिसका आश्रय ग्रहण करता है, उसके पाप-पुण्यका भाग भी उसे कुछ-न-कुछ ग्रहण करना ही पड़ता है।

आजीविका एवं सुविधादाता—जिसका अन्न कोई खाता है, जिसकी सहायतासे, जिसके द्वारा सुविधा उठाकर रहता है, उसके पाप-पुण्यका भाग भी ग्रहण करता है। सुविधा तथा आजीविका देनेवालेको भी उन सुविधा उठाने-वालोंके कर्मका भाग मिलता है। साधक इसीलिये सबका दान नहीं लेते। किसका अन्न ग्रहण करें, किसका न ग्रहण करें, इसका बहुत विचार करते हैं। तीर्थोंमें अन्न-सत्र लोग चलाते हैं। साधु-ब्राह्मणोंको, गरीबोंको, तीर्थयात्रियोंको वस्त्र, पाठ-पूजाकी पुस्तकें, जूता-छाता अथवा धन दान करते हैं। वे इन पुण्यात्माओंके पुण्यका भाग प्राप्त करते हैं।

स्वामी-सेवक—इन दोनोंमें भी एक-दूसरेके कर्मोंका विनिमय होता है। जैसे उत्तम सेवकके कारण स्वामीकी प्रशंसा तथा दुश्चरित्र सेवकसे स्वामीकी निन्दा होती है, वैसे ही स्वामीके सुयश-अपयशसे सेवककी भी प्रशंसा-निन्दा होती है। लोकमें ही ऐसा नहीं होता। दोनोंके पाप-पुण्यका भी कुछ अंश एक-दूसरेको प्राप्त होता है।

निन्दक-प्रशंसक—आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। इतनेपर भी आप एक व्यक्तिके उत्तम कर्मकी प्रशंसा करते हैं और अधम कर्मकी निन्दा करते हैं। उस व्यक्तिके कर्मोंमें इस निन्दा या प्रशंसासे आपका भाग हो जाता है। प्रशंसा करके आप उसे यश तथा निन्दा करके अपयश देते हैं। इसलिये उसके पुण्य-पापका भाग मिलता है आपको।

पुराणमें एक कथा ही है कि किसी राजाने स्वप्नमें देखा कि उसके पुण्य तो हैं; किंतु उसके अपकर्मके स्वरूप बहुत-सी घोड़ेकी लीद भी एकत्र है जो उसे खानी पड़ेगी। देव-दूतने बताया कि लोग उसकी निन्दा करें तो लीद उनमें बँट सकती है। राजाने बुरा काम तो नहीं किया; किंतु ढंग ऐसा बनाया कि लोग उसे बुरा समझकर उसकी निन्दा करें। दुबारा उसने स्वप्न देखा तो थोड़ी लीद बची थी। राज-पुरोहितने बताया कि राज्यमें एक व्यक्ति है जो किसीकी निन्दा नहीं करता। वह निन्दा करे तो बची लीद समाप्त हो।

राजा वेश बदलकर गया। उसने अपनी निन्दा कराने-

की बहुत चेष्टा की तो वह व्यक्ति बोला—'राजन्! आपका प्रयत्न व्यर्थ है। वह लीद आपको ही खानी पड़ेगी। मैं आपकी निन्दा करके उसे खानेवाला नहीं हूँ।'

जीवन्मुक्त पुरुषोंसे भी कर्म तो होते ही हैं। उनके संचित तो ज्ञानसे भस्म हो जाते हैं। प्रारब्ध वे भोगते हैं। लेकिन ज्ञानके अनन्तर जो कर्म वे करते हैं, उसमेंसे शुभ कर्म उनकी सेवा तथा प्रशंसा करनेवालोंको तथा अशुभ कर्म उनको कष्ट देनेवालों तथा उनकी निन्दा करनेवालोंको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है।

इस बातको कर्म-विनिमयके इस नियमको ध्यानमें रखकर प्रत्येक मनुष्यको परनिन्दा, परचर्चासे दूर रहना चाहिये।

प्रेरक, सहायक, अनुमोदक—कर्ता सदा स्वेच्छासे अपनी प्रेरणासे ही कर्म नहीं करता। अनेक बार वह दूसरों-द्वारा प्रेरित किया जाता है। कभी-कभी तो कर्ता गौण होता है और प्रेरक ही मुख्य होता है। जैसे स्वामीकी आज्ञासे विवश होकर सेवकको जब कोई काम करना पड़ता है, गुरु या पिताकी आज्ञासे विवश शिष्य या पुत्रको कोई काम करना पड़ता है तो वहाँ आदेश देनेवाला ही कर्मका मुख्य उत्तर-दायी होता है। कर्मके करनेवालेपर बहुत थोड़ा दायित्व रह जाता है।

ऐसा न भी हो तो भी अनेक बार कर्ता वह कर्म न कर पाता, यदि उसे दूसरेसे प्रेरणा-प्रोत्साहन न मिलता। ऐसी अवस्थामें भी प्रेरक उस कर्मका उत्तरदायी होता है। भले कर्ता वह कर्म स्वेच्छासे कर लेता; किंतु प्रेरणा देनेवाला कर्मके दायित्वसे मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्ममें सहायता देकर कारण बननेवाला भी उस कर्मका उत्तरदायी है।

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २७। ५५)

भगवान्ने कहा है कि कर्मका कर्ता, प्रेरक, सहायक तथा उस कर्मका समर्थन-अनुमोदन करनेवाले भी—'ठीक किया' 'यही करना चाहिये' कहनेवाले भी जन्मान्तरमें उस कर्मके फलभागी होते हैं। बार-बार और बहुत अधिक होकर कर्मफल उन्हें प्राप्त होता है।

अधर्मके सूचक—

यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्।

(श्रीमद्भागवत १। १७। २२)

राजा परीक्षित् वृषभरूपधारी धर्मके सम्मुख यह तथ्य प्रकट कर रहे हैं—'जो स्थान अधर्मके कर्ताको प्राप्त होता है, उस अधर्मकी दूसरोंको सूचना देनेवालेको भी वही स्थान, वही पापका फलभोग प्राप्त होता है।'

'अमुकने अमुक दुष्कर्म किया!' यह सूचना सत्य हो सकती है; किंतु यह सूचना देकर कोई न तो दुष्कर्म रोक सकता, न कर्मका वह निर्णायक है। इसलिये उस अधर्मके फलमें हिस्सेदार बननेकी बुद्धिमानी न की जाय, यही उत्तम बात है।

ए रे! नर चेत!!

जीवनु है थोरौ, काम करिबो घनेरौ, बस,
याही सोच पर्‌यौ मन राति-द्यौस अकुलात।
स्वारथहि साधन में सारी आयु बीती जाति,
करि-करि पाप-कर्म छीन भयौ सब गात॥
धर्म सौं न प्यार, सत्कर्म सौं न सरोकार,
झूठ, छल-छंद, मन्द! अंगन सौं लपटात।
ए रे! नर चेत!! बिनु पुन्य-जल सूख्यौ खेत,
सींचि, नर-देह तेरी धूरि सब भई जात॥

—मक्खनलाल पाराशर एम्० ए०

धर्मनिरपेक्ष राज्यकी कल्पना—एक समसामयिक चिन्तन

(लेखक—प्रो० श्रीकृपानारायणजी मिश्र, एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न)

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् देशके नवनिर्माणकी समस्या देशनायकोंके सामने आयी। दुर्भाग्यवश राष्ट्रपिता बापू 'अपने स्वप्नोंके भारत'को साकार किये बिना ही चल पड़े। वर्षोंके दासत्वके परिणामस्वरूप देशमें भीषण दारिद्र्य, साम्प्रदायिक कलह, जातिवाद, अशिक्षा एवं वर्ग-वैषम्यका भयावह दृश्य सामने था, जिससे नवागता स्वतन्त्रताकी सुरक्षा एवं मर्यादातक खतरेमें पड़ी-सी दीख पड़ती थी। दारिद्र्य, अन्नाभाव, औद्योगिक पिछड़ापन, सामाजिक वैषम्य एवं साम्प्रदायिक कलह—ये सब स्वतन्त्र राष्ट्रको विरासतमें मिले थे। हमारे राष्ट्रनायकोंने पं० जवाहरलाल नेहरूके नेतृत्वमें अदम्य उत्साह एवं अपूर्व साहससे इनका सामना किया। देशके औद्योगिक एवं आर्थिक निर्माणके लिये साम्यवादी रूसके अनुकरणपर पञ्चवर्षीय योजनाओंका प्रारम्भ हुआ। जनताके इस राज्यको ब्रिटेन और अमेरिकाकी नकलपर गणतन्त्र-राज्य (Democratic republic) घोषित किया गया। गांधीजीके विचारानुकूल एवं प्राचीन भारतीय संस्कृतिके अनुसार अहिंसा, सह-अस्तित्व एवं पञ्चशीलसे समन्वित गुट-निरपेक्ष विदेशी नीतिकी घोषणा हुई। गांधीजीके 'रामराज्य'की कल्पनाको साकार करनेके उद्देश्यसे राष्ट्रके सर्वतोन्मुखी विकासके लिये गणतन्त्रीय समाजवाद (Democratic socialism) की गृहनीति अपनायी गयी। ये नीतियाँ क्रान्तिकारी होती हुई भी आदर्श एवं आशापूर्ण थीं और इनके पीछे नये भारतके निर्माणकी महत्त्वाकाङ्क्षा थी। अतः जनताने इन्हें मौन स्वीकृति प्रदान कर दी। परंतु इस सिलसिलेमें जो सबसे भयंकर भूल हुई और जिसपर जनताने अच्छी तरह ध्यान नहीं दिया, वह थी इन राष्ट्रनायकोंकी 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' (Secular state) की कल्पना, जो उस समय उच्च आदर्शोंके आवरणमें आच्छन्न, अत्यन्त लुभावनी-सी लगी। धर्मनिरपेक्षताकी नीतिको सभी सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयोंकी एकमात्र औषध बताया गया और फलस्वरूप भारत 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' घोषित कर दिया गया।

सेक्युलर राज्य होनेके कारण आज अपने राष्ट्रका अपना कोई धर्म नहीं है। राष्ट्रको किसी भी धर्मकी अपेक्षा नहीं, अतएव वह धर्मनिरपेक्ष है। यद्यपि वह व्यक्तिविशेष या सम्प्रदायविशेषके धर्ममें बाधा नहीं डालता, तथापि धर्म-प्रचार एवं धर्म-संरक्षण राष्ट्रका उद्देश्य नहीं है। राष्ट्रीय संस्थाओं, विद्यालयों तथा संघटनोंको किसी भी धर्मके प्रचार करनेका आदेश नहीं है। कैसा विचित्र आदर्श! कैसी समाज-घातिनी नीति! भ्रष्टाचारको खुला निमन्त्रण। मुनाफाखोरी एवं 'काले बाजार' की मार्गप्रशस्ति। और इस प्रकारकी नीतियोंका निर्माण किया भारतीयोंने, स्वतन्त्र भारतीयोंने अपने देशका नव-निर्माण करनेके लिये! उन लोगोंने नहीं समझा कि धर्मके ही कारण मनुष्य पशुसे मानव हुआ। मनुष्य भी एक पशु है, जो विचारशील एवं धार्मिक है और जिसे कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म, उचितानुचितका बोध है। इस बोधशक्तिका ही दूसरा नाम धर्म है। धर्म मानवका निर्माता है और समाजका आधार है। विज्ञान एवं तकनीकी-के प्रचारद्वारा देशका औद्योगीकरण करनेके महत्त्वाकाङ्क्षी हमारे राष्ट्रनायकोंने नहीं समझा कि मानव-चरित्रके निर्माणार्थ धर्म और दर्शनकी आवश्यकता विज्ञान और तकनीकीसे भी कहीं अधिक है।* उन्होंने इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि धर्मका अर्थ ही होता है 'धारण करनेवाला।' धर्म ही राष्ट्र या समाजको धारण करता है—

> धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।
> यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
>
> (महा० कर्ण० ६९। ५८)

"धारण करनेके कारण लोग इसे 'धर्म' कहते हैं। धर्म ही प्रजाको धारण करता है। जो धारणके साथ रहे, वही धर्म है—यह निश्चय है।"

जिस समाजका आधार (धर्म) ही नहीं रहेगा, उस समाजकी क्या गति होगी! धर्मको पाखण्ड, अन्धविश्वास और मूर्खताकी संज्ञा देनेवाले अब भी इस बातको समझनेका

---

* Philosophy and Religion help us more than the exact sciences in discovering a goal for human conduct, a unity for the higher endeavours of the human mind.

Radhakrishnan: *East and West in Religion*, George Allen & Unwin Limited, London. p. 98.

प्रयास करें कि धर्म किसी भी राष्ट्रके लिये अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी राष्ट्रका वास्तविक विकास फौलाद और खादके कारखानोंसे नहीं होता, रेलों और सड़कोंके विस्तारसे नहीं होता, बड़ी-बड़ी इमारतों और संस्थाओंसे नहीं होता और विशाल व्यापारसे भी नहीं होता। राष्ट्रका वास्तविक विकास तब होता है, जब वहाँके नागरिक ईमानदार, सच्चे, उच्च तथा निर्मल-चरित्र हो जाते हैं। उनमें मानवताके प्रति प्रेम, देशके प्रति निष्ठा, सत्यके प्रति अनुराग तथा अत्याचारके प्रति घृणाका भाव विकसित हो जाता है। उनका आत्मा इतना सबल हो जाता है कि उनसे कुछ भी अनुचित नहीं हो सकता। उनका चरित्र इतना सत्यनिष्ठ हो जाता है कि वे कुमार्गपर जानेका विचारतक नहीं कर सकते। उनके हृदयमें संतोष एवं सत्यका इतना प्राबल्य होता है कि वे कभी लोभके शिकार नहीं हो सकते। उनकी अन्तरात्मा (Conscience) इतनी सचेत एवं प्रबल होती है कि वह उनके लिये सत्यासत्य और उचितानुचितकी सच्ची निर्णायिकाका काम देती है। जो राष्ट्र ऐसे नागरिकोंका निर्माण कर सके, वही वस्तुतः विकासशील राष्ट्र है। घूसखोरों, बेईमानों, चोरों, अत्याचारियों एवं भ्रष्टाचारियोंको पैदा करनेवाला और प्रश्रय देनेवाला राष्ट्र कभी भी विकास नहीं कर सकता। जिस राष्ट्रमें मानवताके निर्माणका कारखाना खराब हो गया हो, उसका विकास खाद और सीमेन्टके कारखानोंसे नहीं किया जा सकता। जिस राष्ट्रमें मानव दिन-दूने रात-चौगुनेकी गतिसे बढ़ते जा रहे हों और मानवता उसी अनुपातमें घटती जा रही हो, वह राष्ट्र सचमुच अभागा है। जिस राष्ट्रने धर्मका ही परित्याग कर दिया हो और जो अपना विकास भी चाहता हो, उसका भला भगवान् ही कर सकते हैं।

धर्मसे ही मानवताका निर्माण होता है। धर्म मानवको सदाचारी एवं सत्यनिष्ठ बनाता है। आचार धर्मका प्रथम चरण है। 'आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च' (मनु० १। १०८)। धर्म शरीरपर आत्माकी विजय, इन्द्रियोंपर मनकी विजय एवं असत्यपर सत्यकी विजयकी शिक्षा देता है। वह मानवको अनुशासित एवं जितेन्द्रिय रहकर नैतिक बलसे काम, क्रोध, लोभ और घृणाका दमन करते हुए विश्वको अत्याचार एवं अधर्मसे बचानेका साहस प्रदान करता है।* धर्मकी उपेक्षा करनेवाले राष्ट्रमें सत्यनिष्ठ एवं देशभक्त नागरिकोंका निर्माण असम्भव है। धर्मका मूल सूखे सिद्धान्तों (Dogmas) और सम्प्रदायवादी मत-मतान्तरों (Creeds) में नहीं होता है और न तो पूजापाठ, बाह्य उपचार और उत्सवोंमें। धर्म वस्तुतः चिर-संचित उस गम्भीरतम ज्ञान-भंडारमें है, जिसमें आजके मानवके अव्यवस्थित विचारों (Chaotic thoughts) को व्यवस्थित एवं नवनिर्मित करनेकी क्षमता है।† धर्म वह शक्ति है, जो राष्ट्रकी रक्षा हर प्रकारसे करनेमें समर्थ है। धर्मका लक्षण ही बताया गया है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणादका सूत्र), अर्थात् जिससे ऐहिक कल्याण (भौतिक सुख) और पारलौकिक सिद्धि (मोक्ष) दोनोंकी प्राप्ति हो, वह धर्म है। धर्मकी सुरक्षा करनेवाले राष्ट्रका सदा कल्याण होता है। धर्म नागरिकोंको सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ एवं सदाचारी ही नहीं बनाता अपितु राष्ट्रके सभी संकटोंका हनन भी कर देता है—

धर्मेण हन्यते व्याधिर्धर्मेण हन्यते ग्रहः।
धर्मेण हन्यते शत्रुर्यतो धर्मस्ततो जयः॥

अब स्पष्ट हो जाना चाहिये कि धर्म-निरपेक्ष राज्यकी कल्पना कितनी आत्मघातिनी थी! कुल अठारह वर्ष बीते हैं। भ्रष्टाचारका नग्न नृत्य हो रहा है। देशमें अन्नका अभाव है। नागरिकोंमें देश-प्रेमका अभाव है। शासकोंमें नैतिकता एवं सत्यनिष्ठा नहीं है। पदाधिकारियोंमें आत्मबल एवं नैतिक भावना नहीं है। फलस्वरूप रिश्वतखोरी, चोरी एवं भ्रष्टाचारने भयंकर रूप धारण कर लिया है। कहा गया है कि जो धर्मकी उपेक्षा करता है, धर्म भी उसकी उपेक्षा करता है। जो धर्मका नाश करना चाहता है, धर्म भी उसको नष्ट कर डालता है। यह शास्त्रीय बात है—

* Religion is the discipline which touches the conscience and helps us to struggle with evil and sordidness, saves us from greed, lust and hatred, releases moral power and imparts courage in the enterprize of saving the world.

Radhakrishnan: *Religion and Society*, George Allen and Unwin London, 1947, p. 42

† The essence of Religion is not in the dogmas and creeds, in the rites and ceremonies which repel many of us, but in the deepest wisdom of the ages, the *philosophia perennis*, Sanatana Dharma, which is the only guide through the bewildering chaos of modern thought.

Ibid., p. 43.

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

राष्ट्रको धर्म-निरपेक्ष बनाकर हमारे राष्ट्रनायकोंने जो भूल की, उसीका परिणाम आज हमारी आँखोंके सामने है। देशके शिक्षाविद् आज मुक्तकण्ठसे चिल्लाने लगे हैं कि देशमें धार्मिक शिक्षा अत्यावश्यक है। भारतके गृहमन्त्रीको बाध्य होकर 'सदाचार-समिति' की कल्पना करनी पड़ी है। आजकल शासकों एवं मन्त्रियोंके लिये 'आचार-संहिता' का निर्माण किया जा रहा है। इस प्रकार अब धर्मकी आवश्यकताका अनुभव होने लगा है। यह कल्याणकारी लक्षण है। इस दिशामें उचित यह है कि शीघ्रातिशीघ्र धार्मिक शिक्षा विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयोंमें अनिवार्य कर दी जाय। धार्मिक तथा नैतिक विचारोंके प्रसार एवं प्रचारका उपयुक्त वातावरण तैयार किया जाय। संस्कृत और संस्कृतिके अध्ययनके मार्ग प्रशस्त किये जायँ। एक प्रकारका धार्मिक जागरण (Religious awakening) लानेका प्रयास किया जाय। इस मशीनयुगमें आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्योंके पुनर्जीवन (Revival) की आत्यन्तिक आवश्यकता आ पड़ी है। समाजरूपी शरीरका आत्मा धर्म ही होता है।* जिस प्रकार शरीर-शुद्धिके लिये आत्मिक विकासकी आवश्यकता है, उसी प्रकार समाजके अभ्युत्थानके लिये धर्मके संरक्षण एवं संवर्धनकी आवश्यकता है। जब राष्ट्रमें धार्मिक वातावरण तैयार हो जायगा, तब लोभ, मोह और ऐसी सभी बुराइयाँ स्वतः नष्ट हो जायँगी।

राष्ट्रनायक और अधिकारीवर्ग अपना उत्तरदायित्व समझें और इस प्रकारके धार्मिक नवजागरण (Religious Renaissance) का मार्ग प्रशस्त करें। जनता ऐसे लोगोंको चुने, जिनमें नैतिक एवं आत्मिक गुणोंका विकास हो। अधिकारी वही बनें जो अधिकारको सम्हाल सकें। राष्ट्रके हितके साथ खिलवाड़ करनेवालोंको आगे न बढ़ने दिया जाय। इस देशमें शासक वही हो सकता था, जो धार्मिक एवं आत्मसंस्कारसम्पन्न होता था—

आत्मसंस्कारसम्पन्नो राजा भवितुमर्हति।

(कामन्दक० मण्डल मो० ४। ४)

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।

(महाभारत, शान्ति० ९०। १३८)

रक्षयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः।
अथामुमाहु राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः॥

(श्रीमद्भागवत ४। १६। १५)

धर्मसे हमारा तात्पर्य किसी सम्प्रदायके धर्म-विशेषसे नहीं है। हमारा तात्पर्य सभी धर्मोंके मूलभूत मूल्यों (the Quintessence of all religions) से है। बाह्याडम्बरों (Externals) का परित्याग कर देनेपर इस्लाम, ईसाई और हिंदू धर्ममें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। इन सभी धर्मोंका मूल तत्त्व एक-सा ही है। अपना विचार है कि सेक्युलर रहकर भी कोई राज्य धार्मिक बन सकता है। धर्मके सार्वभौम तत्त्वोंका प्रचार और प्रसार किया जाय, जिससे नयी मानवताका निर्माण हो सके। विज्ञानने मानवको मशीन बनानेका उपक्रम तैयार कर लिया है। मानवताकी रक्षाके लिये धर्मकी शरण लेनेकी आवश्यकता आ पड़ी है। विश्वमें युद्धके काले बादल मँडरा रहे हैं। रावण और कंसका जमाना आनेवाला है। विज्ञान मानवको भस्मासुर बनाने जा रहा है। ऐसी दशामें धर्मके संरक्षण और संवर्द्धनकी आवश्यकता विश्वके सम्मुख उपस्थित है। धर्मविहीन विज्ञान भी अज्ञान-सा ही है।† हमारे तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंने कहा था—

वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः॥

'यह पृथ्वीका आधिपत्य (सम्पत्ति-अधिकारादि) हवामें उड़नेवाले बादलके समान हैं, विषय-भोग केवल आरम्भमें ही मधुर लगनेवाले हैं (उनका अन्त दुःखद है), प्राण तिनकेके अग्रभागमें स्थित जल-बिन्दुके समान नश्वर है, धर्म ही मनुष्यका सनातन एवं स्थायी कल्याणकारक मित्र है, अतः उसका विरोध नहीं करना चाहिये।'

---

* A mechanical world in which humanity is welded into a machine of soulless efficiency is not the proper goal for human endeavour; we need a spiritual outlook which will include in its intention not only the vast surging life, economics and politics but the profound needs of the soul...Religion is the inside of a civilization, the soul, as it were, of the body of its social organization.

Radhakrishnan: *East and West in Religion*, George Allen & Unwin Limited, London, pp. 44-45.

† Science without conscience is Nescience.

महर्षि गौतम और उनका धर्मशास्त्र

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यद्यपि इस नामके गौतम आरुणि, गौतम आग्निवेश्य, गौतम औद्दालक आरुणि, सात्य गौतम, कौश्रेय गौतम, गौतम हारिद्रुमत आदि अनेक लोग हुए हैं और तदनुसार उन-उनके शाण्डिल्य, भारद्वाज, आग्निवेश्य, माण्टि, सैतव, गार्ग्य आदि अनेकानेक गोत्र भी कहे गये हैं, तथापि अहल्यापति गौतमसे ही हमारे इस लेखका सम्बन्ध है।* महाभारत आदिपर्व १०४-१२४, सभापर्व अध्याय ४ श्लोक १७, शान्तिपर्व ९०, अनुशासनपर्व १५४ आदिके अनुसार इनकी माताका नाम प्रद्वेषी, पिताका नाम दीर्घतमा और गोत्र आङ्गिरस प्राप्त होता है।† ऋग्वेद १। १४७ के अनुसार इनके पिता बृहस्पतिके शापसे जन्मान्ध उत्पन्न हुए थे। बृहद्देवता ३। १२३, महाभारत, शान्तिपर्व ३४३ तथा मत्स्य० ४८। ५२-६ आदिमें इनके नामकी व्युत्पत्ति आदिकी चर्चा है।

महा० १। १२२। ५० एवं भागवतादि प्रायः सभी पुराणोंमें इनका नाम वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें आता है—

> कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
> जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः॥
> (श्रीमद्भागवत ८। १३। ५)
>
> वसिष्ठः कश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निः सगौतमः।
> विश्वामित्रभरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥
> (श्रीविष्णुपुराण ३। १। ३२)

अर्थात् (इस वर्तमान ७वें वैवस्वत मन्वन्तरमें) वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र और भरद्वाज—ये सात सप्तर्षि हैं। इनकी स्त्री अहल्या साक्षात् ब्रह्माजीकी ही पुत्री कही गयी हैं। (ब्रह्मपुराण ८७, वाल्मीकि रामा० उत्तरकाण्ड ३०, तथा भागवत ९। २१ में अहल्याको मुद्गलकी पुत्री तथा हरिवंश १। ३२में इन्हें वध्र्यश्वासकी पुत्री कहा गया है।) विभिन्न रामायणों तथा रामसम्बन्धी नाटकग्रन्थों (प्रसन्नराघव, अनर्घराघव, बालरामायण आदि) में एवं महाभारत, वनपर्व १८५ आदिमें शतानन्दजीको इन दोनोंका पुत्र बतलाया गया है। पाद्मोत्तर २६८ तथा ब्रह्मपुराणके प्रायः १३५ अध्यायोंमें गोदावरीमाहात्म्यमें इनकी बड़ी महिमा है। इन्हींके नामपर गोदावरीको गौतमी गङ्गा भी कहते हैं। उत्तङ्क महर्षि इन्हींके शिष्य थे। (महा० आदि० ५६-५७)। चिरकारी इनके दूसरे पुत्र थे (महा० शान्ति० २६६। ४)। इन्होंने पारियात्र पर्वतपर ६० हजार वर्षोंतक तपस्या की थी। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर धर्मराज इनके आश्रमपर पधारे थे। इनका आश्रम कुछ समयतक मिथिलामें (वाल्मीकि-रामायण आदि) तथा पश्चात् सुदूर उत्तरमें बतलाया गया है—

उदीचीमाश्रिता दिशम्। (शान्तिपर्व २०८। ३३)*

---

* महर्षि गौतमकी जीवनीसे सम्बन्धित बहुत-सी बातें 'कल्याण' वर्ष ३८, अङ्क १२ के 'दुर्भिक्ष' लेखमें आ चुकी हैं।

† (क) तरुणीं रूपसम्पन्नां प्रद्वेषीं नाम ब्राह्मणीम्। (आदिपर्व १०४। २४)

(ख) यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः। (शान्तिपर्व ९०। १)

(ग) कक्षीवान् दीर्घतमाः—सभा० ४, अनु० १५४ पूरा अ०।

* 'तीर्थाङ्क'के अनुसार भारतमें कई गौतमाश्रम तथा गौतमकुण्ड हैं। १—बक्सरमें, पृ० १५७, दूसरा जनकपुरमें पृ० १५३। यह सीतामढ़ी-दरभंगा रेलवेलाइनपर कमतौला स्टेशनसे १० मील पश्चिमकी ओर है। यहाँ ५ कुण्ड हैं। इस गौतमाश्रमका क्षेत्र प्रायः १० वर्गमीलके अन्तर्गत है। तीसरा गौतमाश्रम २४७ पृष्ठके अनुसार नासिकसे १७ मील दूर त्र्यम्बकेश्वरमें है। यहाँ गौतमालय तालाब तथा गौतमेश्वर मन्दिर आदि भी हैं। चौथा गौतमाश्रम, पृ०

अकालपीडित जनता तथा साधु-ब्राह्मण-ऋषि-मुनियोंकी १२ (कहीं १००) वर्षोंतक अन्न-दान, सेवादिकी कथा नारदपुराण २।७३, देवीभाग० १२—१९, शिवपुराण कोटि० २५—२७ आदि अनेक स्थलोंमें प्राप्त होती है। शिवपुराण, उमासंहिता २। ४३ आदिमें इनके द्वारा न्यायदर्शन, गौतमशिक्षा, धर्मशास्त्र आदिके निर्माणकी बात उपलब्ध होती है। द्राह्यायण १। ४। १७, लाट्यायन १। ३। ३ आदि श्रौतसूत्रों तथा गोभिल आदि गृह्यसूत्रोंमें इनके आचार्यत्वका उल्लेख है। इनके न्यायदर्शनपर अनेक व्याख्याएँ हैं। इनके आह्निकसूत्र, पितृमेधसूत्र भी मिलते हैं।

गौतमधर्मसूत्र*

इसे गौतमस्मृति भी कहते हैं। कलकत्ता (रा० ए० सो०) तथा मैसूरके संस्करणोंमें पीछे एक भाग अधिक मिलता है, अन्योंमें प्रायः २८ अध्याय हैं।

३९८ के अनुसार आबू पर्वतपर (राजस्थानमें) है। Abu Guide तथा Mount Abu नामक पुस्तकोंमें भी इसका विस्तृत वर्णन है। इस मन्दिरमें गौतमजी और अहल्याकी प्रतिमाएँ हैं।

About 4 miles towards the west from the Vasisthasram is the Asram of Gautama. The footpath leading to Gautamashram passes through a dreary wood. In the temple there are the images of Gautama and his wife Ahalyā.

(Mount Abu, pp. 52, by Hiralal Dayabhai Nanavati, Second Edition, 1931)

इनमें अन्तिम तो पारियात्रपर्वतवाला ही अनुमित होता है। इनके अतिरिक्त कोई एक इनका आश्रम हिमालयमें होना चाहिये, जैसा कि ऊपरकी कथासे ज्ञात होता है।

* मोर प्राच्य संस्करणमें गौतमस्मृति और वृद्धगौतमस्मृति नामकी दो स्मृतियाँ और हैं। इसे पहले जीवानन्दने भी छापा था।

पर इस अध्यायपर किसीकी व्याख्या नहीं है। अतः हो सकता है, यह प्रक्षिप्त हो।

मनु० (३। १६), बौधायन तथा वसिष्ठादिने अपने धर्मसूत्रोंमें गौतमके इस शास्त्रका उल्लेख किया है। तन्त्रवार्तिक (शाबरभाष्य), अपरार्क (याज्ञ० स्मृतिकी व्याख्या), स्मृतिचन्द्रिका, शांकरभाष्यादिमें भी इसका उल्लेख है। इस ग्रन्थपर हरदत्त, असहाय, मस्करी आदिकी टीकाएँ हैं। पहले और भी बहुत-सी व्याख्याएँ थीं। हरदत्त और मस्करीकी व्याख्याओंको मिलाकर देखनेसे स्पष्ट लगता है कि हरदत्तने सब कुछ मस्करीके आधारपर ही लिखा है। 'अपर आह' आदि कहकर पृ० ६९, ८०, ८४ आदिपर मस्करीके भाष्यांशको उद्धृत भी किया है। कामन्दकीय नीतिसारका उपाध्याय-निरपेक्षा आदिके व्याख्याताओंने मस्करीको चाणक्य ही माना है (द्रष्टव्य आनन्दाश्रमसंस्करण), जो उचित ही प्रतीत होता है। मैसूर संस्करण की भूमिकामें मस्करीका प्रतिपादित समय सर्वथा गलत ही है। भाष्यकी प्रणालीसे भी इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट परिलक्षित होती है।

महर्षि गौतमका आदर्श उपदेश

गौतमने योगक्षेमके लिये ईश्वर, देवता, पितर तथा धर्मात्माओंके आश्रय-ग्रहणकी बात लिखी है—

योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् । नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः ।*

(९। ६३-६४)

मस्करीने ५८ पृष्ठमें ज्ञानीकी प्रशंसा लिखी है। 'राजधर्म' विषयक मन्तव्योंमें गौतमकी प्रधानता है। इसपर (व्यवहाराध्याय मिलाकर) चार अध्याय लिखे हैं। प्रायः अन्य

* टीकाकारोंने 'ईश्वर' का अर्थ 'राजा' लिखा है, पर ६४ वाँ सूत्र इस पक्षमें नहीं है। अतः परमेश्वर अर्थ ही ठीक है।

स्मृतियोंमें राजधर्मपर सामग्री नहीं मिलती। मस्करीद्वारा इसकी विशेष व्याख्या भी उनके चाणक्य होनेका प्रमाणान्तर है। गौतमने राजाको सर्वथा आस्तिक होनेका उपदेश किया है। आचाराध्यायमें गौतमने 'अधेनु' को धेनुभव्या, दुर्भगको सुभग, अभद्रको भी भद्र, कपाल (भिन्नभाण्डावयव) को भगाल, इन्द्रधनुको मणिधनु और नकुलको सकुल कहकर पुकारनेका आदेश दिया है। (अध्याय ९ सूत्र २०-२३ तथा सूत्र ५३) इसपर एक टिप्पणी स्कन्द—माहेश्वर-खण्डमें व्यासने लिखी है। याज्ञवल्क्यजीने एक नकुलको नकुल कह दिया था। इसपर उसने उन्हें शाप दे दिया और याज्ञवल्क्यजीको अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ।

महर्षि संवर्तद्वारा कथित 'नकुल' का वह प्रसङ्ग 'स्कन्दपुराण', माहेश्वरखण्डमें इस प्रकार उपलब्ध होता है। बहुत पहले मिथिलामें याज्ञवल्क्य मुनि रहते थे। उनका आश्रम बड़ा रम्य था। एक दिन एक नकुलको आते देख उन्होंने गार्गीसे कहा—'भद्रे! गार्गि! देखो दूध बचाना, यह नकुल आ रहा है। यह दूध पीना चाहता है। इसे भगाना।' उनकी यह बात सुन नकुल मनुष्यकी भाषामें बोलने लगा (वह वास्तवमें मुनि था, पर जमदग्निके शापसे नकुल-विग्रहमें था)—'अरे! तुम्हें बार-बार धिक्कार है। देखो! पापी मनुष्य कभी-कभी कितना निर्लज्ज हो जाता है—उसे यह पता भी नहीं रहता कि इसके परिणामस्वरूप उसे कितना भीषण नरक भोगना पड़ेगा। मुने! तुम अपनेको कुलीन समझकर ही तो मुझे नकुल कह रहे हो!* अरे याज्ञवल्क्य! तुमने क्या पढ़ा? क्या यही तुम्हारी योगेश्वरता है? तुम मुझ निरपराधको क्यों कोसते हो? इतने परुष वचन कहनेका आदेश तुम्हें भला, किस शास्त्रसे मिला है? क्या तुम यह नहीं जानते कि प्राणी जितने क्रूर शब्दोंका उच्चारण करता है, उतनी ही तप्त लौहशलाकाएँ यमपुरुष उसके कानोंमें डालते हैं? वज्र, विषदग्ध, शस्त्र और कालकूट विषका प्रयोग तो ठीक है; पर वाक्-शस्त्रका प्रयोग ठीक नहीं—

वज्रस्य दिग्धशस्त्रस्य कालकूटस्य चाप्युत।

× × ×

न तु तं परुषैर्वाक्यैर्जिघांसेत कथंचन॥

(माहे० कुमारि० १३। ७४-६)

यह सुन याज्ञवल्क्यजी डर गये। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'महान् धर्मको नमस्कार! ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु आदि भी जिस धर्मतत्त्वके विषयमें मोहित हों, वहाँ मेरी क्या गणना। जो अपनेको धर्मात्मा या धर्मज्ञ मानता है, वह मानो धूलकी रस्सीसे बालको बाँधना चाहता है। श्रीशुकदेवजीने तथा गृह्यसूत्रकारने भी ठीक ही कहा है कि नकुलको भी सकुल कहे, किसीको भी कटु वचन न कहे—

नकुलं सकुलं ब्रूयान्न कचिन्मर्मणि स्पृशेत्।

(८५)

'अतः आप क्षमा करें।' पर नकुलने उन्हें क्षमा नहीं किया और याज्ञवल्क्यको पुनर्जन्म लेने तथा अकुलीन होनेका शाप दे दिया। इससे पीछे वे ही भर्तृयज्ञ हुए थे।

---

* महर्षि पाणिनिके (६। ३। ७५)—

नभ्राट्-नपात्-नवेदा-नासत्यानमुचि-नकुल-नख-नपुंसक-नक्षत्र-नक्र-नाकेषु प्रकृत्या—इस सूत्रानुसार 'न कुलमस्य'—इसका कोई कुल नहीं है, इस विग्रहके अनुसार 'नकुल' शब्द बनता है।

यह मृत्युलोक

(लेखक—श्रीपरमहंसजी महाराज, श्रीरामकुटिया)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

कालके द्वारा सीमित होनेके कारण ब्रह्मलोकसे लेकर चौदह भुवन सभी अनित्य हैं । 'भूर्भुवः स्वः' के अन्तर्गत यह पृथ्वीलोक है, जिसपर हम सभी प्राणी निवास करते हैं । इसका वास्तविक नाम है—'मृत्युलोक ।' यहाँ सर्वाधिकारसम्पन्न राजाके भी ऐश्वर्य और अधिकारका वास्तवमें कोई अर्थ नहीं है । उसका वह ऐश्वर्याधिकार क्षणभङ्गुर है । वह न किसीका रहा और न कभी किसीका रहेगा ही । अतः मृत्युलोकके ऐश्वर्य एवं अधिकारका जो मोह है, वह व्यर्थ है; क्योंकि उसका अन्त ही निश्चित है । मनुष्य स्वयं मर्त्य है ।

कालो जगद्भक्षकः ।

और

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

जैसे शरीर क्षणभङ्गुर और अनित्य है, वैसे ही यहाँ वैभव भी अनित्य ही नहीं, वरं नित्य दुःखद है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

मृत्यु सबके पीछे लगी हुई है; जिसके दस मस्तक और बीस भुजाएँ थीं, वह महान् वीर रावण भी अमर नहीं हो पाया । ऐसे रावणको जिसने बाँध लिया था, जिसके हजार भुजाएँ थीं, वह सहस्रबाहु अर्जुन भी अमर नहीं रहा; क्योंकि यह मृत्युलोक ही ठहरा । और—

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥

काल (मृत्यु) ही सभी प्राणियोंको पचाता है, प्रजाका नाश करता है । चराचरको लय करनेवाली वह मृत्यु नित्य जाग्रत् है । इसलिये ऐसी दुरत्यय मृत्युको कोई भी टाल नहीं सकता ।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

सभी देहधारी प्रतिदिन मृत्युलोकसे यमराजके घरपर जाते हैं, मृत्युको प्राप्त होते हैं; पर जो लोग यहाँ शेष—जीवित हैं, वे अमर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या हो सकता है ? मृत्युलोकमें कायम कौन है ?

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति ।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता ॥

मृत्युलोकका स्वरूप है—सुबहका पकाया अन्न पड़ा-पड़ा रात पड़नेपर नष्ट हो जाता है । ऐसे सड़नेवाले अन्नसे शरीरके स्वस्थ रहनेका भरोसा करना एक धोखा है । अरे भाई ! भूलो मत कि तुझे भी मरना है । एक सिर और दो हाथवाले अत्यन्त दुर्बल मनुष्य ! तुम अमर रहना चाहते हो ?

जलबुद्बुदवन्मूढ क्षणविध्वंसि जीवनम् ।
किमर्थं शाश्वतधिया करोषि दुरितं सदा ॥

'मानव ! तेरा यह शरीर पानीके बुलबुलेके समान क्षणभङ्गुर है, इसे स्थिर मानकर तू क्यों पापोंमें प्रवृत्त है ?' स्वार्थ और मोहसे उन्मत्त मनुष्य आज सर्वथा विवेकशून्य होकर दूसरोंको सताना, दूसरोंका अहित करना, दूसरोंकी हिंसा करना, दूसरोंका स्वत्व हरण करना, दूसरोंको धोखा देना, दूसरोंको गिराना, दूसरोंको दबाना इत्यादि पापकर्मोंमें ही जीवन बिताना चाहता है !

मोहमूढ मानव ! ये तेरे वैभव, उपार्जित धन, स्वजन और अधिकार—सभी क्षणभंगुर हैं । जिस सुखके लिये, जिन स्वजनोंके लिये, जिस देहके आरामके लिये, जिस झूठी नामवरीके लिये तू पाप कर रहा है, वे सब नष्ट हो जायँगे । इन भोगों, पदार्थों और

शरीरोंको मृत्यु चबाकर पीस देनेवाली है। मिथ्या मोहमें मनुष्य जीवनभर दुःख, नैराश्य और अशान्ति, चिन्ताके साथ भोगोंकी प्राप्तिके प्रयासमें छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, चोरी, हिंसा, अनाचार आदि पापोंमें रत रहता है। पापका परिणाम है नरक। नरककी दारुण यन्त्रणा कितनी भयानक है, इसे बताया नहीं जा सकता। इसके सिवा सहस्र-सहस्र बार मृत्युका ग्रास बनना पड़ता है।

भगवान्‌ने कहा है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। १६, २०)

'जिनका चित्त अनेक विषयोंमें सदा भटकता रहता है, जो मोहरूपी जालसे सर्वथा ढके हुए हैं, ऐसे वे कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त लोग घोर अपवित्र नरकमें गिरते हैं। ऐसे मूढ लोग मुझको प्राप्त न होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, तदनन्तर उससे भी अति नीच गतिमें जाते—घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

जीवनका प्रारम्भ गर्भवास, प्रसव आदि दुःखोंसे होता है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दोष जीवनभर लगे रहते हैं—यों दुःखमें ही स्थिति और पर्यवसान होता है। इस मृत्युलोकमें दुःख-ही-दुःख भरा है। किसी भी अवस्थामें सुखकी आशा करना एक भ्रम है—इतना बड़ा भ्रम कि संसारके सभी लोग इस भ्रान्तिमें विभ्रान्त हैं। भगवान्‌ने इसको दुःखालय और अनित्य कहा है—

दुःखालयमशाश्वतम्।

इस नाशवान्, अस्थिर, विकारी शरीरमें मोह क्यों? इस शरीरके आरामके लिये पापमें प्रगतिशील क्यों? केवल इसीलिये कि मृत्युकी स्मृति नहीं और भोगोंमें सुखकी आस्था है! इस भोग-लालसामें प्रमत्त होकर ही मनुष्य अधिकाधिक पाप करता है—जैसे आज धनी निर्धनोंको, बड़े छोटोंको, सबल निर्बलोंको, शासक जनताको, विषयी विरक्तोंको, अधर्मी धर्मियोंको, सुखी दुखियोंको लूटने, भय दिखाने, दबाने-नाश करनेमें तल्लीन है। मनुष्यकी यह अहम्मन्यता और भोगलालसा! कहाँतक कहा जाय। आज मनुष्य मानवेतर मूक प्राणियोंके पीड़न और विनाशमें बुरी तरह प्रवृत्त है। मानो उनमें जीव है ही नहीं। पर मनुष्य कितना ही दुर्दान्त हो, मृत्युसे बच नहीं सकता।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥

अपनी मृत्यु आकाशवाणीसे सुनकर कंस अपनी बहिन देवकीको मारने लगा, तब वसुदेवजीने उपर्युक्त श्लोक कहा था—हे वीर! देहधारीकी मृत्यु देहके साथ उत्पन्न होती है। अवधि पूरी होनेपर, चाहे वह आज हो या सौ वर्षोंके बाद, प्रत्येक देहधारीकी मृत्यु निश्चित है।

बहिस्सरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते।

बाहर निकलनेवाला श्वास भीतर जायगा या नहीं, यह कौन जानता है। अतएव—

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥

जिस कार्यके लिये मनुष्य भूलोकमें आया है, उसे शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये। सबेरेका शामपर और आजका कलपर छोड़ना नहीं चाहिये; क्योंकि मृत्यु तुम्हारा कार्य पूरा होने, न होनेकी प्रतीक्षामें ठहरेगी नहीं, इसलिये भोगसुखकी लिप्साका परित्याग करके आत्मकल्याणके लिये जुट जाना ही मानवता है। घर, स्त्री, परिवार, धन-वैभव और अधिकारके मोह-जालमें न पड़कर आत्मोद्धारके लिये संयतेन्द्रिय होकर अभीसे तत्पर हो जाना चाहिये।

तितिक्षा

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'तितिक्षा दुःखसम्मर्षः ।'

चतुर्दिक् रजतधवल उत्तुंग हिमशृङ्ग, उनसे अज्ञात गतिसे निकले हिमस्रोत जो नीचे आकर निर्झरमें परिवर्तित हो जाते थे और उन निर्झरोंका प्रवाह 'दामोदर-कुण्ड' बनाता है । नैपालमें मुक्तिनाथसे पर्याप्त आगे दुर्गम पर्वतोंमें है यह शालिग्राम-क्षेत्र । इसी परम पावन स्थलीको बाबा गोरखनाथने अपनी साधनभूमि बनाया था।

'जहाँ दो कोसतक चारों ओर एक भी प्राणी न हो, वहाँ आसन लगा ।' अपने सहज समर्थ शिष्यको दीक्षाके उपरान्त योगीश्वर मत्स्येन्द्रनाथजीने आदेश दिया था । कहीं भी जायँ, प्राणी तो मिलेंगे ही । उस हिमप्रान्तको उन्होंने प्राणिशून्य देखा था । पर्वतीय पक्षी भी उन दिनों वहाँ नहीं थे । बरफने जहाँ सारी धरतीको अपनी लंबी-चौड़ी सफेद चादरसे ढक रक्खा हो, क्षुद्र कीटोंका वहाँ रहना सम्भव नहीं होता ।

'देहकी स्मृति ही सबसे बड़ी बाधा है ।' गोरखनाथजी साधारण मानव तो थे नहीं कि उन्हें साधनाकी विस्तृत व्याख्या आवश्यक होती । गुरुने केवल सूत्र सुना दिये थे । उन सूत्रोंका विवेचन उन्हें स्वयं प्राप्त करना था ।

'देहकी स्मृति—देहाध्यास दुस्तर तो है ।' आज जहाँ जानेके लिये विशेष वस्त्र, विशेष जूते तथा अनेक ओषधियाँ आवश्यक होती हैं, जहाँ यात्री सिरसे पैरतक अनेकानेक अच्छे भारी ऊनी वस्त्रोंसे आच्छादित होकर किसी प्रकार जा पाता है । जहाँ नेत्रोंपर चश्मेका नीलावरण न हो तो हिमपरसे प्रतिबिम्बित सूर्यकी किरणें आधे ही क्षणमें अन्धा बना दें और नासिका किसी चिकने लेपसे लिप्त न हो तो हिमदंशसे कब गल गयी, पता ही न लगे, उस स्थानमें जो केवल कटिमें काली कौपीन बाँधे, नग्नदेह, नग्नपद पहुँचा हो, उस कर्णमें विशाल योगमुद्राधारीकी कठिनाईका कोई ठिकाना है ?

उन योगाचार्यको शीत संतप्त नहीं करता । सिद्धौषध-शास्त्रके उन महान् मर्मज्ञको न हिमान्धता हो सकती थी, न हिमदंश; किंतु प्रकृति अपने कार्यमें प्रमाद तो नहीं करती । श्वाससे बाहर आती आर्द्रता मूँछोंपर हिमकण बनकर स्थिर होती जा रही थी । हिमने जटाओं तथा श्मश्रुपर छाकर उन युवा योगीको श्वेतकेश-जैसा बना दिया था । हिम, जल और यत्र-तत्र कुछ शिलाएँ—तृणका नाम वहाँ नहीं था । कोई ऐसी पाषाण-शिला नहीं मिली, जिसपर वे आसन लगाते । दामोदरकुण्डके जलमें डुबकी लगाकर आर्द्रदेह, आर्द्रकेश ही वे हिमशिलापर पद्मासनसे बैठ गये थे । प्राणायामने शरीरको संज्ञाशून्य नहीं होने दिया । अन्यथा वहाँ प्राणी दामोदरकुण्डमें प्रवेश करते ही अर्धमूर्छित हो जाता है, किसी प्रकार जलसे शीघ्रतासे निकलनेपर भी सर्वाङ्ग अवश, अनियन्त्रित हो जाता है ।

'बहुत बाधक है यह देहकी अनुभूति ।' गोरखनाथ-जी-जैसे जन्मसिद्धके लिये भी वहाँ मनको देहसे हटा-कर एकाग्र करना कठिन हो रहा था । प्राणायामसे प्राप्त उष्मा शीघ्र समाप्त हो जाती थी और तब लगता था कि शीत अस्थियोंमें प्रवेश करके उन्हें छिन्न-भिन्न कर रहा है । एक-एक स्नायु फट जायगी, इतनी दारुण वेदना उठने लगती । रक्त जब जमने लगे, पीड़ा होती ही थी । पुनः प्राणायामका आश्रय लेना पड़ता था ।

'युक्ताहारविहारस्य' गीताके गायकने 'योगो भवति दुःखहा'की सिद्धिका साधन जो कहा है, बहुत महत्त्वपूर्ण है । आयुर्वेदने स्वस्थ शरीरकी पहचान बतलायी है कि शरीरका स्मरण न हो । बहुत शीत या उष्णता, अनाहार, अनिद्रादिसे उत्पीडित शरीर अपनी ओर मनको बार-बार आकर्षित करेगा । ऐसी अवस्थामें ध्यान,

भजन आदि नहीं होता। शरीरकी सामान्य आवश्यकताओंको पूर्ण करके, उसे साधारण स्थितिमें रखकर और मनकी वासना-तृष्णाको बलपूर्वक दबाकर साधन चलता है।

ये सब बातें सामान्य साधकके लिये हैं। सृष्टिमें जो विशेष शक्तिशाली आते हैं, वे अपना विशेष मार्ग भी बना लेते हैं। संघर्षमें अपनेको डालकर विजय प्राप्त करनेका जो गौरव है, वह उनका भाग है। उनके साथ स्पर्धा करने जाकर सामान्य व्यक्ति तो अपना विनाश ही बुलायेगा।

योगी युवक गोरखनाथ असामान्य पुरुष थे। प्रकृति उनको पराभव दे सके, इतनी शक्ति उसमें नहीं हो सकती। उस देववन्द्य पावन स्थलको त्यागकर अन्यत्र जानेकी बात मनमें उठ नहीं सकती थी। प्राणी-वर्जित प्रदेश और वह भी पुण्यभूमि और कहाँ प्राप्त होनी थी। उन्होंने निश्चय किया—'इस देहकी ओर ही पहले ध्यान देना चाहिये।'

जब देह लक्ष्यकी ओर नहीं जाने देता, देहको ही लक्ष्य बनाकर उसकी ओरसे पहले निश्चिन्त हो लेना चाहिये, यह तर्क उस समय भी नवीन नहीं था। भगवान् दत्तात्रेयका रसेश्वर-सम्प्रदाय इसी आधारको लेकर चलता था और गोरखनाथजीके लिये सिद्ध रसेन्द्र-प्रक्रिया अपरिचित नहीं थी।

× × ×

शुभ्र शशाङ्क-धवल विप्र पारद आज अप्राप्य है और सुप्राप्य वह कभी नहीं था; किंतु जो ध्यानावस्थित होकर त्रिलोकीके सम्पूर्ण वाह्याभ्यन्तरका दर्शन कर सकता हो, उसे वह दुर्लभ नहीं हो सकता था। सिद्धेश्वर रसेन्द्र मणिलिङ्ग सुतलमें सही, महायोगीके लिये सुतल अगम्य कहाँ है।

सविधि सुमुहूर्तमें उस मणिलिङ्गके सांनिध्यमें जब अभिषिक्ता अर्चिता द्वात्रिंशल्लक्षणा सिद्धिदा कौमारी शक्तिने रसार्दन प्रारम्भ किया, आधिदैविक शक्तियोंमें आक्रोश उठना स्वाभाविक था। स्थूल जगत् अपनी सीमामें रहे, यह जिनका दायित्व है। मानव जब उनके अधिकारको चुनौती देकर उठ खड़ा होता है, उन्हें भी अपने शस्त्र सम्हालने ही पड़ते हैं। दिशाएँ काँपने लगीं। अकाल उल्कापात तथा प्रचण्ड उत्पात प्रारम्भ हुए; किंतु गोरखने दृष्टि उठायी और वे सब शान्त हो गये।

क्षेत्रपाल और स्थल-(ग्राम-) कालिकाने अपनेको असमर्थ पाया उस महासाधकके सम्मुख जानेमें। जहाँ छिद्र होता है, विघ्न वहीं आते हैं। प्रमादरहित, पूर्ण जागरूक गोरखनाथके समीप विघ्न कहाँसे जाते? योग एवं रस-साधनाके विघ्नोंको तो उनका नाम-स्मरण ही निवृत्त कर देता है।

सहसा गोरखनाथ आसनसे उठ खड़े हुए। उन्होंने जल एवं बिल्वपत्र हाथमें लिया। धरा-अम्बरको अपने पदाघातसे पीड़ित करती, उग्रतेजा भगवती छिन्नमस्ता दौड़ती आ रही थीं। अपने ही हाथमें अपना मस्तक लिये, अपने भिन्नशिर कबन्धके कण्ठदेशसे फूटती रुधिर-धाराको उस मस्तकसे और अपने अन्य दो रूपोंसे पान करतीं, खड्ग-खप्पर, पाश, मस्तकहस्ता, त्रिरूप-धारिणी उन महाशक्तिके मुखोंसे बारंबार चीत्कार फूट रहा था—'नाशय! नाशय! हुं।'

'नमः त्रिपुरान्तकाय महारुद्राय हुं फट्' गोरखनाथ-जीने बिल्वपत्रसे जलबिन्दु निक्षिप्त किये और अत्यन्त विनीत स्वरमें बोले—'मातः! आप कोई रूप ले लें, शिशुपर निष्करुण नहीं हो सकतीं। यहाँ भगवान् नीललोहितका मणिलिङ्ग विराजमान है। इसकी अवमानना आपको भी अभीष्ट नहीं होगी?'

क्षणार्धमें सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य हो गया। छिन्नमस्ताका हस्तस्थित मस्तक उनके कण्ठदेशपर पहुँच-कर स्थिर हो गया। उनके पार्श्वकी उनकी दोनों मूर्तियाँ उनमें लीन हो गयीं। वे दिगम्बरा त्रिरूपा अब

पाटलारुणवस्त्रा, किञ्चित् श्यामवर्णा, तिर्यक्-मुखस्थिता, त्रिलोचना त्रिपुरभैरवी बन चुकी थीं ।

'शङ्करहृदिस्थिता करुणामयी अम्बे ! आप सुप्रसन्न हों !' गोरखनाथने स्तवन किया सविधि; किंतु वह रूप त्रिपुरसुन्दरी नहीं बना । कोई चिन्ताकी बात भी नहीं थी । त्रिपुरसुन्दरीके सम्मुख स्थित होनेपर आशुतोषके स्फटिक गौर वक्षमें जो उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, भस्माङ्गरागलिप्ताङ्गकी छायासे किञ्चित् श्यामवर्णा वह त्रिपुरभैरवी शिवहृदिस्थित होनेसे अतिशय करुणामयी हैं । साधकके लिये वे परम सिद्धिप्रदा हैं ।

'तुमने महाशक्तिकी अर्चनाके बिना ही यह कर्म प्रारम्भ कर दिया । यह भी स्मरण है तुम्हें कि यह युग कौन-सा है ? कलिमें रससिद्धि कदाचित् ही होती है । तुम केवल अपने तीन शिष्योंको इसे दे सकोगे ।' भगवतीने एक सीमा निर्धारित की और वे अन्तर्हित हो गयीं ।

रसार्दनका श्रम, नियम-पालन तथा प्राणापदाको जिन्होंने स्वीकार किया था, उन कौमारी शक्तिको वञ्चित करना शक्य नहीं था । वे उस सिद्ध रसका सेवन करके अमर योगिनी हो गयीं । अनेक नामोंसे उनका उल्लेख कई योग-सम्प्रदायोंमें पाया जाता है ।

गोरखनाथजीका देह रसेन्द्रका सेवन करके सिद्ध हो गया । वे अपने दो शिष्योंको ही यह लाभ दे सकेंगे, यह चिन्ता अनावश्यक थी । अब उन्होंने फिर दामोदरकुण्डके समीप हिमशिलापर आसन लगाया । प्रकृतिकी कोई शक्ति अब उनके देहको प्रभावित नहीं कर सकती थी । अब उनके ध्यानमें देह बाधा नहीं दे सकता था ।

× × ×

'यह क्या दम्भ करने बैठा है ?' उन्मुक्तकेश, अङ्गारनेत्र, दिगम्बर, मलिनकाय एक अतिदीर्घ देह पागल पता नहीं कहाँसे उस प्राणिहीन प्रदेशमें आ गया था और वह बार-बार अट्टहास कर रहा था । अद्भुत बात यह थी कि गोरखनाथजी ध्यान नहीं कर पा रहे थे । शत-शत वज्रपात-ध्वनि करते शिलाखण्ड जहाँ क्षण-क्षणमें टूटते हैं, उस प्रचण्ड कोलाहलमें सर्वथा अप्रभावित योगी इस उन्मत्तके अट्टहाससे विचलित हो गया था । उसे लगता था कि कोई उसके मनको बलपूर्वक बाहर खींच लाया है ।

'आप कौन हैं ?' गोरखनाथजीने पूछा । वे अपनी नेत्र-पलक भी बंद नहीं कर पाते थे । पलकें चेष्टा करनेपर भी नहीं गिर रही थीं ।

'तेरा बाप ! तेरा गुरु !' पागलने हाथकी तलवारसे गोरखनाथपर प्रहार किया; किंतु योगीके सिद्ध वज्र-देहसे टकराकर तलवार झनझनाकर पागलके हाथसे छूट गिरी । उनके शरीरपर चिह्नतक नहीं बना ।

'दम्भी कहींका ! तेरा गुरु····' पागलका अट्टहास्य असह्य हो गया । वह पता नहीं गुरुदेवको क्या कहने-वाला था । गुरुको कोई अपशब्द कहेगा, यह सम्भावना ही सहन नहीं हुई । गोरखनाथजीने झपटकर तलवार उठा ली और पूरी शक्तिसे पागलपर चोट की; किंतु यह क्या ? अपने आघातके वेगसे गोरखनाथ स्वयं भूमिपर—हिमशिलापर गिर पड़े । तलवार पागल-के शरीरमेंसे ऐसे निकल गयी थी, जैसे वायुमें चलायी गयी हो ।

'आप कौन ? देवता, यक्ष, गन्धर्व ?' गोरखनाथ स्वयं बोलते-बोलते रुक गये । उनके सम्मुख जब वे योगस्थ हों—प्रेत-पिशाच, यक्ष-गन्धर्व, देवता-दैत्य कोई ऐसी धृष्टता करनेका साहस कर कैसे सकता है ? ऐसा कौन है यह जो प्रयत्न करनेपर भी उनकी सर्वज्ञ दृष्टिकी पकड़में नहीं आता ।

'मैं असत्य नहीं कहता । तेरे दम्भने तुझे अविश्वासी बना दिया है ।' पागलका स्वरूप बदल गया और गोरखनाथ गुरुदेवको पहचानकर उनके चरणोंपर गिर पड़े ।

'मेरे गुरुदेवको छोड़कर व्योमदेह दूसरा भूतलपर नहीं हुआ, यह मैंने सुना था ।' गोरखनाथके नेत्रोंसे झरती अश्रुधारा गुरुके चरण धो रही थी । मेरा सिद्ध वज्रदेह-प्राप्तिका गर्व गल गया । मुझपर अनुग्रह करें देव ! मेरा दम्भ ?'

'माताको अपने अबोध शिशुकी चिन्ता रहती है ।' गुरुने कहा । 'तू क्या समझता है कि मत्स्येन्द्र अपने कर्तव्यको भूल जायगा ? शिष्यको स्वीकार किया तो उसको परम सिद्धितक पहुँचाना कर्तव्य बन गया । तेरी प्रत्येक क्षणकी साधना मेरी दृष्टिमें रही है । तूने छिन्नमस्ताको सुप्रसन्न कर लिया; किंतु यदि चामुण्डा आती ?'

गोरखनाथजी भी एक बार भयकम्पित हो गये । सचमुच आना तो चामुण्डाको ही चाहिये था और उन शिव-वक्षपर ताण्डवकारिणी उग्रभैरवीको भला वे कैसे शान्त करते ? वे तो कोई मर्यादा मानती नहीं हैं ।

'मैं चामुण्डा-पीठसे ही आ रहा हूँ ।' मत्स्येन्द्रनाथ हँसे । 'मेरी अर्चाकी उपेक्षा करके चामुण्डा कहीं जा नहीं सकती थी ।'

'गुरुदेव !' शिष्य अपने समर्थ गुरुके पावन पदोंपर मस्तक ही तो रख सकता है ।

'किंतु अब यह तेरा दम्भ है ।' मत्स्येन्द्रनाथने समझाया । 'मेरी इच्छा थी कि तू प्राणिहीन प्रदेशमें कुछ काल तपस्या करता । तप अपार शक्तिका द्वार उन्मुक्त कर देता है । कलिके सम्पूर्ण जीवोंको तेरा तपःतेज कल्पान्ततक पवित्र रखता; किंतु सृष्टिके नियामकका विधान अन्यथा कैसे हो सकता है ।'

'मेरा दम्भ ?' गोरखनाथजीको अपने आचरणमें कहीं दम्भ नहीं दीखता था । दम्भ होता है दूसरोंको अन्यथा दर्शन करानेके लिये । इस जनहीन प्रदेशमें कोई किसलिये दम्भ करेगा ?

'तपका मूल है तितिक्षा और तितिक्षा कहते हैं दुःखोंको जान-बूझकर सहनेको ।' खिन्नस्वरमें मत्स्येन्द्र-नाथ कह रहे थे । 'शरीरको सिद्धरस-सेवनसे वज्र बनाकर तू जो इस शीत-प्रदेशमें आ बैठा है, यह कौन-सा तप, कौन-सी तितिक्षा है ? जब शरीर शीत-उष्ण—आघातादिसे प्रभावित होता ही नहीं, तब तेरा यहाँका निवास क्या तपका दम्भ नहीं है ?'

गोरखनाथजी चुप रह गये । उनके समीप भी कोई उत्तर नहीं था । मत्स्येन्द्रनाथजी कुछ रुककर बोले—'यही भूल मुझसे भी प्रारम्भमें ही हुई थी, जब मैंने स्थूल पाञ्चभौतिक देहको साधन-शक्तिसे व्योमदेहमें परिवर्तित किया । मैं प्रकृतिकी जिस विजयपर प्रफुल्ल था, अब जानता हूँ कि वही मेरी पराजय थी । मायाने मुझे देहकी ओर आकृष्ट करके पंगु कर दिया था ।'

'परमात्मा अनन्त करुणालय है । देहको वज्र अथवा व्योम-सदृश बनाना आवश्यक होता तो उसने ऐसा करनेमें संकोच न किया होता ।' कुछ रुककर वे योगेश्वर बोले—'देहकी दुर्बलता—कष्टानुभव-क्षमता ही मानवको तप एवं तितिक्षाके वे साधन देती है, जिनमें सम्पूर्ण सृष्टिको परिवर्तित कर देनेकी शक्ति है ।'

'अब मेरे समान तुम्हें भी लोकालयमें अज्ञात विचरण करना है । अज्ञजनद्वारा प्राप्त मानापमानमें सम रहकर मानसिक तप करो ।' मत्स्येन्द्रनाथने आदेश देकर कहा । 'प्राणिहीन प्रदेश अब अनावश्यक है, किंतु तितिक्षाका सीमित क्षेत्र शक्तिस्रोत भी सीमित कर देता है । महेश्वरकी इच्छा पूर्ण हो ।'

गुरु-शिष्य साथ ही वहाँसे नीचे चले ।

धार्मिक स्वाधीनताके लिये प्राणोत्सर्ग करनेवाले हुतात्मा-महात्मा गौरीनाथ

(लेखक—श्रीशिवकुमार गोयल)

भारतकी पुण्य-भूमिपर ब्रिटिश गोरोंका आधिपत्य था, तो गोआको पुर्तगाली गोरोंने अपनी दासतामें जकड़ रक्खा था।

पुर्तगालियोंने गोआपर अधिकार करनेके पश्चात् हिंदुओंको तलवारके बलपर ईसाई बनानेका अभियान प्रारम्भ कर दिया। पुर्तगीजोंने हिंदू-मन्दिरोंको गिरा-गिराकर उनके स्थानपर चर्च बनाने प्रारम्भ कर दिये। हिंदुओंकी चोटियाँ काटी जाने लगीं, यज्ञोपवीत तोड़कर फेंके जाने लगे। हिंदुओंको विवाह-संस्कार, नामकरण एवं यज्ञोपवीत-संस्कार करनेकी पूरी तरहसे पाबंदी थी।

पुर्तगाली पादरियोंने घोषणा करायी कि जो भी हिंदू माथेपर तिलक या टीका लगायेगा, उसे गिरफ़्तार कर लिया जायगा। सन् १६७९ के अन्तमें आदेश निकाला गया कि यदि कोई भी हिंदू यज्ञ-हवन करता पाया गया तो उसपर दो हजार रुपये जुर्माना किया जायगा। शहरके एक हिंदूने सनातनधर्मी रीतिसे विवाह किया तो उससे पाँच हजार रुपये जुर्मानेके रूपमें चर्चके लिये वसूल किये गये।

पुर्तगाली अधिकारी मि० मर्टिन एक्टोसे डी मेलोने ६ नवम्बर १५४१ को जारी किये गये अपने एक आदेशमें गोआके हिंदुओंको चेतावनी दी—'यदि वे छः मासके अंदर ईसाई नहीं होते तो उन्हें राज्यसे निर्वासित कर दिया जायगा।'

ईसाई पादरी गाँव-गाँव घूमकर हिंदुओंको सामूहिक रूपसे ईसाई बनानेका अभियान चला रहे थे। गाँव-के-गाँव आतङ्क एवं भयके बलपर ईसाई बनाये जा रहे थे। हिंदू आतङ्ककी चक्कीमें पिस रहा था।

हिंदुओंने जब अपनी आँखोंके सम्मुख ही अपने देवमन्दिरोंको गिरते देखा, प्राणप्यारी गैया मैयाके रक्तके नाले बहते देखे, अपने धर्मबन्धुओंको तलवारके बलपर धर्मभ्रष्ट किये जाते देखा तो उनका हृदय हाहाकार कर उठा, किंतु क्रूर एवं बलशाली पुर्तगालियोंके अत्याचारी शासनके सम्मुख वे बेबस थे, लाचार थे।

गोआके ग्राम कुनारामें जिस समय पुर्तगीज हिंदुओंको जबरदस्ती ईसाई बनाकर, हिंदू बच्चोंसे 'ईसूमसीह मेरे प्राण बचैया' का नारा लगवा रहे थे, तो गोरखनाथ-सम्प्रदायके एक हिंदू संत बाबा गौरीनाथ यह दृश्य देखकर चीत्कार कर उठे। उनका धार्मिक हृदय हिंदुओंको धर्मभ्रष्ट होते देखकर काँप उठा।

महात्मा गौरीनाथने गाँवके हिंदुओंको एकत्रित करके सिंहगर्जना की और उन्हें धर्मके लिये प्राण-अर्पण करनेको उत्साहित किया। उन्होंने कहा—'अरे, भय तथा आतङ्कसे धर्म छोड़ना तो नीचतम कायरताका प्रमाण है। प्राण चाहे चले जायँ; किंतु धर्मकी रक्षा होनी चाहिये। ये पुर्तगीज हमारे देश तथा धर्मके महान् शत्रु हैं। इनके अत्याचारी साम्राज्यका नाश अवश्यम्भावी है।'

कुनाराके हिंदुओंने नाथ-बाबाकी सिंहगर्जना सुनी तो उनका आत्माभिमान जाग्रत् हो उठा। उन्होंने गलेमें पड़े क्रासोंको तोड़कर पैरोंसे रौंद डाला। बाइबिलोंकी जगह पुनः गीता-रामायण रख दीं एवं ईसाके चित्रके स्थानपर भगवान् श्रीराम-कृष्णके चित्र प्रतिष्ठित कर दिये। समस्त ग्राम पुनः हिंदूधर्मकी शरणमें आ गया।

पुर्तगाली शासकोंने जब पादरियोंसे नाथ-बाबाकी गतिविधियोंकी चर्चा सुनी तो वे जल-भुन उठे। नाथ-बाबाको कुनाराके शिवमन्दिरसे पकड़कर जेलमें डाल दिया गया।

महात्मा गौरीनाथपर पुर्तगालियोंने भीषण अत्याचार

किये। उन्हें कई दिनोंतक भूखा-प्यासा रक्खा गया, हंटरोंसे पीटा गया, किंतु पुर्तगालियोंके भीषण अत्याचार नाथ-बाबाको विचलित न कर सके। वे अपने प्राणप्रिय सनातन हिंदू-धर्मपर चट्टानके समान डटे रहे। जेलकी कोठरीसे निरन्तर 'हिंदू-धर्मकी जय'का उद्घोष होता रहा।

दस सशस्त्र पुर्तगाली सिपाहियोंने जेलकी बैरकका फाटक खोला और बाबासे कहा—'यह गोमांस है, इसे खाओ।'

'नरपिशाच म्लेच्छो! भाग जाओ!'—नाथ-बाबा दहाड़ उठे। 'तुम्हारे यह अत्याचार तुम्हारे क्रूर पुर्तगाली शासनको भस्मीभूत कर देंगे।'

पुर्तगाली बाबाके तेजस्वी एवं रौद्र रूपके आगे न ठहर सके। वह बैरकसे बाहर हो गये और दूसरे दिन बाबाको जेलकी कोठरीसे निकालकर गोआके मुख्य गिरजाघरके सामने मैदानमें एक गड्ढेमें कमर तक गाड़ दिया गया। चार शिकारी कुत्ते नरपिशाच पुर्तगालियोंने बाबापर छोड़ दिये। देखते-ही-देखते खूँख्वार कुत्तोंने नाथ-बाबाके शरीरकी बोटियाँ नोच डालीं! अमर हुतात्मा महात्मा गौरीनाथ अपने इष्टदेव भगवान् श्रीपशुपतिनाथका स्मरण करते हुए परलोक सिधार गये।

महात्मा नाथ-बाबा गौरीनाथके इस महान् बलिदान-से, गोआके बलिदानपूर्ण इतिहासमें एक पृष्ठ और संलग्न हो गया!

बाबा गौरीनाथका धर्मकी रक्षाके लिये किया गया यह महान् बलिदान था!

फलित प्रार्थना

(लेखक—श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव एम्० ए०)

वह नित्य प्रार्थना करता रहा। धीरे-धीरे प्रार्थनामें तन्मयता आती गयी और तन्मयता रूपकी सृष्टि करती रही। वाणी अधरोंका स्थान छोड़कर आँखोंमें आ बसी। प्रार्थना जीवनमें रम गयी, भक्ति विश्वासमें विरम गयी, अन्ततः प्रार्थनाको सौभाग्य देने देवता पधारे। प्रार्थीपर कृपा-दृष्टि डालकर बोले—'भक्त! मैं तुम्हारी प्रार्थनासे प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम मुझसे क्या चाहते हो?'

भक्तने भोलेपनसे बातको दुहरा दिया—'देवता! मैं भी यही पूछता हूँ कि तुम मुझसे क्या चाहते हो?'

भक्तकी बात सुनकर भगवान् चकित हो गये। पर तुरंत ही गाम्भीर्यको मुसकानसे हलका बनाते हुए कह उठे—'मैं भला तुमसे क्या चाहूँगा! मैं कुछ नहीं चाहता।'

'मैं भी कुछ नहीं चाहता।' इतना कहकर भक्तने राम-राम कहा और जानेको मुड़ा……। परंतु देवताने झपटकर भक्तका हाथ पकड़ लिया और आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे भक्त! तुम रूठकर जा रहे हो! मैं सच कह रहा हूँ कि मेरी कोई इच्छा नहीं। तुम जो चाहते हो, वही मैं चाहता हूँ।'

भक्त भी मन्द स्वरमें भुनभुना उठा—'तुम जो चाहते हो, वही मैं चाहता हूँ।'

हिंदू-धर्मकी अग्नि-परीक्षा

(लेखक—श्रीसुन्दरलालजी बोहरा)

धनुर्धर किंतु धैर्यवान् व्यक्ति ही धर्मकी ध्वजाको थाम सकते हैं। जिस समाजके नेताओंमें भी युवकोचित उत्साह है, समुद्र-सी गम्भीरता है और समयके अनुसार जनताको निर्देशन देनेकी क्षमता है, उस समाजकी शान्ति और अस्तित्वको भयंकर-से-भयंकर बवंडर भी विक्षुब्ध नहीं कर सकते। आपसी संगठन, कुशल-नेतृत्व एवं कष्टसहिष्णुता समाजको सदा बल ही प्रदान करते हैं। वही समुदाय प्रशंसाके योग्य है जो एक ही समयमें साधुओंके सदृश शीलवान् एवं सैनिकों-जैसे शूरोंसे ओतप्रोत रहता है। जिस संगठनमें कोरे फक्कड़-ही-फक्कड़ भर्ती हो जायँ, वह संगठन इहलौकिक समस्याओंसे सम्बन्धित न रहकर केवल शनैः-शनैः पारलौकिक गुत्थियोंको सुलझानेमें ही उलझ जाता है। संन्यासियोंके हाथमें दण्डका रहना इस बातका स्पष्ट प्रतीक है कि संन्यासीको परम शीलवान् होनेके साथ-ही-साथ शूर रहना भी अत्यावश्यक है। यही बात थी कि राजर्षि होते हुए भी विश्वामित्रको श्रीराम-लक्ष्मणको अपनी रक्षार्थ आमन्त्रित करना पड़ा। देहासक्त संन्यासी अथवा धर्म-प्रचारक अपने भेषको ही कलङ्कित करते हैं। वैदिक धर्मके पुनःसंस्थापक श्रीकुमारिल भट्ट एवं समर्थ गुरु रामदास-जैसी विवेकशीलता और निडरता ही किसी धर्मविशेषका प्राण हैं। यही कारण है कि हिंदू-धर्म देहकी नश्वरतापर अहर्निश बल देता है। सही अर्थमें कर्मयोग उसी साधकका सफल एवं गौरवशाली सिद्ध होता है जो कर्तव्य-कर्मकी साधनामें अपने प्राणोंकी भी परवा नहीं करता।

आज भी हिंदू-धर्मको ऐसे ही निडर और प्रबल धर्म-प्रचारकोंकी—तपस्वी, कुशल कार्यकर्त्ताओंकी आवश्यकता है। राष्ट्रद्वारा अपनायी गयी धर्म-निरपेक्ष नीति हिंदू-धर्मके लिये गला घोंटनेवाली ही सिद्ध हुई है। जिस प्रकार बिना नामका कोई व्यक्ति नहीं होता, ठीक उसी तरह बिना धर्मके कोई राष्ट्र अथवा समुदाय नहीं होता—यही सनातन प्रकृति रहती आयी है। राष्ट्रको धर्मसे रहित घोषित करना मानव-शरीरमें व्याप्त दिव्य संस्कारोंका हनन करना है; **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** की परम्परापर ही कुठाराघात करना है।

धर्म-निरपेक्षताकी नीति हिंदू-धर्मके लिये आज थूहरके काँटोंके समान सिद्ध हो रही है। हर शिक्षित एवं संस्कृत पुरुष इस धर्महीन नीतिके कारण वैचारिक भूलभुलैयामें फँस गया है। समस्त सरकारी अधिकारी चाहे हिंदू ही क्यों न हों, फिर भी इस नीतिकी ओर अँगुली तक नहीं उठाता। हमलोगोंसे तो वे प्राणहीन पत्थरकी मूर्तियाँ ही अच्छी हैं जो बिना हाथ-पैर हिलाये अपने ऊपर गिर रहे तूफानी ओलोंको भी टुकड़े-टुकड़े कर देती हैं। तनिक सोचिये, हमारे 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' एवं 'स्वतन्त्र चिन्तन' के भ्रम कितने तथ्यपूर्ण हैं ?

किसी दर्जीसे कपड़ा सिलवानेका अर्थ यह तो नहीं है कि वह अपने स्वयंके शरीरके अनुरूप ही कपड़ेकी कटाई और सिलाई कर दे;—उस वस्त्रकी सिलाईसे दर्जीकी कुशलता अवश्य झलकेगी, किंतु अन्ततः वह वस्त्र तो हमारा ही होगा। उसी प्रकार राष्ट्रकी नीतिको धर्मरहित रखकर हमें अपनी सनातन संस्कृति तथा संस्कारोंसे विलग नहीं किया जा सकता।

देशकी हर समस्याको पाश्चात्य परिस्थितियोंके दृष्टिकोणसे देखनेका ही यह फल है कि आज

ईसाईमत हिंदुत्वपर हावी होता जा रहा है। नागालैण्डके रूपमें ईसाइयत भारतमें स्थायीरूपसे अपना मठ कायम कर रही है। आज भारतमें एक करोड़के करीब ईसाई गृहस्थ एवं सात हजारसे ऊपर ईसाई धर्म-प्रचारक हैं। आये दिन नये-नये चर्चोंकी स्थापना हो रही हैं। प्रतिमास तीस हजारके करीब नादान, निरक्षर आदिवासी तथा अन्य हिंदुओंको ईसाई बनाया जा रहा है। करोड़ों रुपया ऋणके नामपर विदेशोंसे प्राप्त करके भारत-स्थित ईसाई-संस्थाएँ ईसाइयतका प्रचार करनेमें लगा रही हैं। औरंगजेबने तलवारके बलपर हिंदुओंसे उनका ईमान बदलवाया था; अंग्रेजोंने सरकारी पदका प्रलोभन देकर ईसाइयतको भारतमें पनपाया और आज वे उच्छिष्ट ईसाई-संस्थाएँ भोलेभाले ग्रामीणोंको आर्थिक एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओंका प्रलोभन देकर भ्रष्ट कर रही हैं। विदेशोंसे पाठ्यपुस्तकोंके नामपर प्रतिवर्ष हजारों रुपयेका हिंदूधर्म-विरोधी साहित्य हिंदुओंमें ही लाकर बाँटा जाता है! अफसोस, चश्मा लगानेपर भी हमारी आँखोंका दृष्टि-दोष नहीं जाता है!

आज पूरा केरल ईसाई बन रहा है; मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास, बिहार-केन्द्रद्वारा शासित क्षेत्रों एवं असमके वायुमण्डलमें ईसाइयतकी विषैली गैससे भरे हुए गुब्बारे छोड़े जा रहे हैं। फिर भी देशके प्रतिष्ठित रईस, नेता तथा शिक्षक लोग अपने बच्चोंको ईसाइयोंके मिशन स्कूलोंमें भेजनेको लालायित रहते हैं—

> दिलके फफोले जल उठे सीनेकी आगसे।
> इस घरको आग लग गयी घरकी चिरागसे॥

इतना तो सिद्ध है कि एक शिक्षित ईसाई पादरीकी अपेक्षा एक निरक्षर हिंदू किसान धर्मके व्यावहारिक रूपको अधिक सूक्ष्मतासे समझता है, लेकिन कृषककी आर्थिक विपन्नता ही उसे ईसाइयत कबूल कर लेनेको बाध्य करती है। ईसाई मिशनरी लोग भी 'ऋण-अदायगीकी असफलतापर धर्म-परिवर्तन' की शर्त ऋणीसे मंजूर करवाकर ही ऋण देते हैं। मुसल्मान जहाँ भी गये, उन्होंने तलवारके बलपर लोगोंका ईमान बदला; ईसाई जहाँ भी पहुँचे, उन्होंने लोगोंका आर्थिक प्रचूषण करके उन्हें ईसाई बनाया। उपनिवेशवाद-रूपी मधुमक्खियोंका छत्ता ईसाई मिशनरियोंद्वारा ही पाला गया है।

किंतु यह प्रमाणसहित कहा जा सकता है कि हिंदू-धर्मने आजकी परिभाषावाला उपनिवेश कभी कहीं भी कायम नहीं किया, हिंदू-धर्मके प्रचारकोंने सदैव सहानुभूतिसे ही काम लिया है—धर्मप्रचारार्थ किसी भी हिंदू सम्राट्ने तलवार उठायी हो, ऐसा उदाहरण सम्पूर्ण हिंदुत्वके इतिहासमें मिल ही नहीं सकता। कलिंग-विजयके बाद अशोकने पश्चात्तापके रूपमें अपना शेष जीवन आत्म-शोधनमें ही लगा दिया। हिंदू-धर्मसे प्रस्फुटित जैन एवं बौद्ध धर्म अपने जन्मकालसे ही अहिंसाके कट्टर समर्थक तथा पोषक रहे हैं। आर्थिक अथवा राजनीतिक सिद्धिके लिये तलवार उठायी जाती है, किंतु धर्म-प्रचारके लिये सिवा इस्लाम तथा ईसाई धर्म-प्रचारकोंके मानव-इतिहासमें किसीने भी तलवार नहीं उठायी। शक्करकी चासनीमें तैयार की हुई कुनैनकी गोलियाँ खिलानेमें ईसाई मिशनरी ही गौरवका अनुभव कर सकते हैं, एक हिंदू-धर्म-प्रचारक असत्यको सत्यका जामा पहनानेकी स्वप्नमें भी कल्पना नहीं करता।

ईमानदारी एवं निष्पक्षतासे देखा जाय तो आज भारतमें बसे हुए समस्त मुसल्मान और ईसाई लोग निश्चित रूपसे हिंदू ही हैं। यह भला हम कैसे मान सकते हैं कि अपनेको अहिंदू कहनेवाले सब लोग शरणार्थी अथवा खानाबदोश जातियोंके रूपमें ही आये हैं। हमारे आपसी मन-मुटाव एवं मठों, मन्दिरों तथा घाटोंपर लड़नेकी प्रवृत्तिने ही हमलोगोंमेंसे करोड़ों

भाइयोंको इस्लामी तथा ईसाई होनेको मजबूर किया है। अभी कलतक और कहीं-कहीं आज भी देशके अनेक प्रान्तोंमें मुसलमानोंके शादी-कार्य ब्राह्मण पण्डित ही सम्पन्न करवाते हैं। ईसाई बने हुए परिवारोंके सिर्फ नाम बदल जाते हैं, किंतु उनके रीति-रिवाज प्रायः हिंदू ही बने रहते हैं—भला सात समुद्रपारके रीति-रिवाजोंको यहाँपर कैसे थोपा जा सकता है? लोगोंके जन्मजात संस्कारोंको सहज ही कैसे बदला जा सकता है? जो भी हो, इससे हिंदुओंकी संख्या एवं शक्तिको तो अवश्य ही धक्का लगता है। सही शब्दोंमें आज हिंदू-धर्मपर अमावास्याकी अन्धकारमयी रात्रि छा रही है, फिर भी हमारी कुम्भकर्णी निद्रा नहीं टूटती है। इसका अर्थ तो यही हुआ कि रातको हमारे मकानमें आग लगी है और हम रजाई ओढ़े हुए पड़े हैं। हिंदू-धर्मके लिये आजकी तुलनामें बुरे दिन शायद ही कभी आये हों; इसपर भी हमारी धमनियोंमें उबाल (Ferment) नहीं आता। ऐसा लगता है जैसे हमारा रक्त आज नसोंमें सर्द होकर (Congealed) रह गया है।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

के उद्घोषक आज न जाने कहाँ समाधिस्थ हो गये हैं।

हर युगका अपना धर्म होता है—संदेश होता है। धर्म कोई जड अथवा स्थिर रहनेवाले उपादानोंसे नहीं बना है। संन्यासियों एवं मनीषियोंका धर्म वैराग्य तथा ज्ञानकी ओर उन्मुख रहता है जब कि गृहस्थी लोग उसी धर्मको ग्रहण करते हैं जो उनके लिये उपयोगी हो। भला हिंदू-धर्ममें ऐसी क्या नपुंसकता आ गयी है जिसके कारण इसमें लोगोंको आकर्षित करनेकी क्षमताका ही ह्रास होता जा रहा है। ये शादीशुदा पादरी लोग हमपर टिड्डियोंकी तरह छा रहे हैं, भला, फिर हमारे नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं भगवाधारी लोग क्या कर रहे हैं? उस साधकका आत्मज्ञान अथवा आत्मशोधन ही आत्मघातक है जो अपने सहधर्मियोंके साथ आत्मीयताका अभाव रखकर भी आत्म-गौरवका अनुभव करता है। इस संदर्भमें आर्य-समाजद्वारा पोषित शुद्धि-आन्दोलन निश्चितरूपसे एक प्रशंसनीय कदम है। किंतु कालियके फनोंकी तरह बढ़ रहे ईसाई-मतके लिये ऐसे अनेकों शुद्धि-प्रचारकोंकी आवश्यकता है; अनेकों निर्भीक एवं निष्पक्ष समाचार-पत्रोंकी आवश्यकता है और आवश्यकता है हिंदुत्वके गौरव अनेकों विवेकानन्दोंकी।

विश्वका इतिहास साक्षी है कि पिछले पाँच हजार वर्षोंमें अनेकों सभ्यताएँ तथा सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और आँधीकी उपस्थितिमें जलते हुए दीपकोंकी तरह शान्त हो गये। पर हिंदू-धर्मके सनातन सिद्धान्तोंपर कोई खरोंच नहीं लगी। बौद्ध और जैनधर्म भी हिंदू-धर्मसे ही निकले और हिंदुत्वके ही पोषक हैं। यही कारण है कि—

यूनाने मिश्र रोमां सब मिट गये जहाँ से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी॥

किंतु आज इस कुछ बातको समझने तथा समझानेवाले शिक्षित और संस्कृत लोग ही विधर्मी बनते जा रहे हैं। अनुभव तथा अध्ययनके आधारपर यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि अपना धर्म एवं ईमान वही व्यक्ति बदलता है, जिसमें विपत्तियोंसे लड़नेकी हिम्मत और हौसला नहीं होता। आप राजस्थानके किसी एकदम निर्धन राजपूतसे धर्म-परिवर्तनकी बात कहिये, वह आपके सामने तलवार निकालकर खड़ा हो जायगा। हिंदू-धर्मके आधार-स्तम्भ ऐसे ही निर्धन किंतु स्वधर्माभिमानी लोग हैं। इन्हीं रणबाँकुरे लोगोंके जीते-जी पानीकी तरह करोड़ों रुपया बहा देनेपर भी भारतीय ईसाई पादरी निराशा एवं विषादका ही अनुभव करते हैं। अपनेको शिक्षित एवं संस्कृत (?) कहनेवाले हमारे शिक्षित समाजमें इसी क्षत्रियोचित स्वधर्माभिमानका दिवाला निकलता जा रहा है। धर्मको पोंगा-

पन्थियोंकी माया एवं धोखेबाजीके विशेषणोंसे जोड़कर इन लोगोंने हिंदू-धर्मको बदनाम करनेमें कोई कसर नहीं रख छोड़ी है ।

इसलिये यह अत्यावश्यक है कि युवकोंको धार्मिक शिक्षा दी जाय । अपितु धार्मिक शिक्षासे तात्पर्य है, औपनिषदिक परम्पराका संवर्द्धन, नचिकेता-सी निडरता एवं आरुणि-जैसी गुरु-भक्तिका युवकोंके जीवनमें बीजारोपण । सही शब्दोंमें धर्म हमारी अपने आत्मा एवं अपने समाजके प्रति संस्कारजात सात्त्विक जिज्ञासा है; इस जिज्ञासाको सचेतन बनाये रखना ही धर्मका पालन करना है ।

आज इसी बातकी आवश्यकता है कि अविलम्बरूपसे हिंदू-समुदायको गतिमान् (mobilize) किया जाय । मनमुटावका परित्याग किया जाय । बौद्ध अन्य नहीं हैं, जैन दूसरे नहीं हैं, आर्यसमाजी पराये नहीं हैं, कबीरपंथियोंकी काथी तीन लोकसे न्यारी नहीं है, ग्रन्थसाहबके पुजारी हमसे अलग नहीं हैं, कोई वल्लभ अथवा रामानुजसम्प्रदायी पृथक् नहीं है, शैव और वैष्णवका भाव एक ही गुलाबके विभिन्न वर्णोंके समान है । हम सब हिंदू हैं—एक ही सात्वत धर्मके अनुयायी । हिंदुओ ! एक होओ—संघे शक्तिः कलौ युगे ।

आज हमारा धर्म खतरेमें है, गायका कत्ले-आम हो रहा है, हमारी माँ-बेटियोंका शील खतरेमें है ! हिंदुओ ! जागो । हिंदुओ ! एक होओ ।

नामपर मत लड़ो, भेषपर मत लड़ो, मन्दिरों और मठोंपर मत लड़ो । तीर्थोंपर दंगा मत करो । मूर्तियोंपर मत लड़ो । ईसाई और इस्लामके मतावलम्बी आपकी ईर्ष्या, द्वेष, मनमुटाव एवं अपने आत्मजनोंके प्रति तिरस्कारकी भावनाके जीते-जागते प्रमाण हैं । आपकी उदासीनता एक करोड़ ईसाइयोंके रूपमें आपकी नींद हराम कर रही है, फिर भी आप रजाई ओढ़नेका विफल प्रयास कर रहे हैं । बर्फानी हवामें मलमलके वस्त्र पहननेवालेको निश्चितरूपसे निमोनिया होता है । ठीक उसी प्रकार अपने धर्मपर संकट आया हुआ देखकर भी जो उदासीन बने रहते हैं, उनका इस धरातलसे नामोनिशान ही मिट जाता है । यह निश्चित मानिये कि मनुष्य होकर भी जो धर्म-संकटके समय मूक बना रहता है, वह आनेवाले जन्ममें जिराफ बनता है ।

अतः अपनेको हिंदुत्वके प्रतिनिधि और हिंदू-दर्शनके साधक तथा ज्ञाता माननेवाले मनीषियो ! आप अपनी मोहमयी निद्राका त्याग कीजिये । हिमालय और विन्ध्याचलकी गुफाओंमें आँख मूँदकर बैठनेवाले महात्माओ तथा श्रद्धेय संन्यासियो ! आप बाहर आइये और मिटते हुए धर्मकी रक्षा कीजिये । गंदी गलियों और गरीबोंके जीवनपर लिखनेवाले ओ कवियो और लेखको ! आप अपनी लेखनीको हिंदुओंमें स्वधर्माभिमान जगानेके लिये समर्पित कर दीजिये । राष्ट्रके ओ करोड़पति महाजनो ! आप विलास मनाना छोड़िये और हिंदू-धर्मके प्रचारार्थ मुक्तहस्तसे धन प्रदान कीजिये । यह हिंदू-धर्मकी अग्नि-परीक्षाका काल है ।*

---

* ऐसा ज्ञात हुआ है कि इस वर्ष सोलह करोड़से अधिक रुपये और सैकड़ों ईसाई प्रचारक भारतवर्षमें आये हैं । बिहार, मध्यप्रदेश, आसाम, नेपाल आदि अनेक स्थानोंमें इनका प्रचार और भोले-भाले हिंदुओंको ईसाई बनानेका कार्य बड़े जोरोंसे चल रहा है । हिंदू-धर्मकी रक्षा करनेवालोंको चेतना चाहिये ।

मधुर

वृषभानुनन्दिनी प्रेममूर्ति श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णसे मधुर-मधुर स्वरोंमें कह रही हैं—

चाह कुचाह मिट गयी सारी,
रही एक यह 'प्यारी चाह'।
मधुर तुम्हारे स्मृति-सागरमें
डूबी रहूँ, न पाऊँ थाह॥
मेरे सब कुछ एक तुम्हीं हो,
सारी ममताके आधार।
मैं भी एक तुम्हारी ही हूँ,
ममता मुझपर नित्य अपार॥
तुम्हें छोड़कर नहीं दीखता
कभी कहीं भी कोई और।
एक तुम्हीं करते विहार नित
मधुर मनोहर सबही ठौर॥
नहीं दीखता मुझमें मेरा
कुछ भी भला-बुरा गुण दोष।
नित्य कर रहे तुम वे लीला
जिनसे तुम पाते परितोष॥
क्या मैं कहूँ, करूँ कैसे कुछ
और ? बताओ, प्रियतम श्याम !
जब कि तुम्हीं बाहर भीतर कर
रहे नित्य लीला अभिराम॥
करते रहो सदा तुम लीला
यों ही मनमानी स्वच्छन्द।
अङ्ग-अङ्ग, मन, मति, आत्मा सब
देते रहें तुम्हें आनन्द॥

प्रियतम श्रीकृष्ण ! मेरी अच्छी-बुरी सभी चाहें मिट गयीं, अब तो बस यह एक ही 'प्यारी चाह' रह गयी है कि मैं तुम्हारी स्मृतिके मधुर समुद्रमें निरन्तर डूबी रहूँ, कभी थाह ही न पाऊँ। प्रियतम ! मेरे सब कुछ तथा मेरी सारी ममताके आधार एकमात्र तुम्हीं हो, मैं भी एकमात्र तुम्हारी ही हूँ और मुझपर तुम्हारी नित्य अपार ममता है। प्यारे ! तुम्हारे अतिरिक्त, मुझे कभी कहीं भी कोई दूसरा नहीं दिखायी देता। सर्वत्र सभी जगह एकमात्र तुम्हीं नित्य मधुर मनोहर विहार करते दीख पड़ते हो। मुझे मेरे अंदर भी मेरी अपनी कुछ भी भली-बुरी वस्तु या गुण-दोष नहीं दिखायी देता। मैं तो देखती हूँ कि सदा-सर्वदा तुम्हीं वे सब लीलाएँ कर रहे हो जिनसे तुमको सुख मिलता है। अतः तुम्हीं बताओ मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर ! मैं अब और क्या कहूँ तथा कैसे कुछ और करूँ ? जब कि मेरे बाहर-भीतर सर्वत्र तुम ही नित्य-निरन्तर सुन्दर लीला कर रहे हो। बस, यों ही तुम सदा अपनी मनमानी स्वच्छन्द लीला करते रहो और मेरे अङ्ग-अङ्ग, मन-बुद्धि-आत्मा सब सदा तुम्हें आनन्द देते रहें।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर प्रियतमा श्रीराधिकासे गद्गद स्वरोंमें कहते हैं—

जिससे मुझ 'आनन्दरूप' को
मिलता है अति परमानन्द।
सदा खिला, जिससे खिल उठता
है वह मधुर कौन-सा छन्द ?॥
जिससे नित्य तृप्त मुझमें जग
उठती सहज अतृप्ति अपार।
मचला नित रहता मन मेरा
जिसके लिये अमन अविकार॥
मैं रस-रूप स्वयं जिसके रस
आस्वादनको बना अधीर।
रहते नित्य देखते मेरे
नेत्र अतृप्त बहाते नीर॥
राधे ! एक तुम्हीं हो मेरी
वही मधुरतम मञ्जुल मूर्ति।
हो सकती न कदापि किसीसे
रञ्चक मात्र तुम्हारी पूर्ति॥

नहीं बजारू सौदा हो तुम
या न लेन-देन व्यापार।
शुद्ध प्रेमका मधुर उछलता
हो अनन्त रस-पारावार॥

मुझ स्वयं 'आनन्द-स्वरूप'को जिससे अत्यन्त परम आनन्द मिलता है; मैं जो सदा ही खिला रहनेवाला, जिसे पाकर और भी खिल उठता हूँ, वह कौन-सा छन्द है ? जिससे मुझ नित्य तृप्तमें भी सहज ही अपार अतृप्तिका उदय हो जाता है; जिसके लिये मेरा अमनरूप निर्विकार मन नित्य मचला रहता है; मैं स्वयं 'रसरूप' जिसके रसका आस्वादन करनेके लिये सदा अधीर बना रहता हूँ; और मेरे नेत्र जिसको सदा ही अतृप्त-रूपसे देखते हुए आँसू बहाते रहते हैं—हे मेरी प्रियतमे राधिके ! मेरी वह मधुरतम मञ्जुल मूर्ति तुम्हीं हो। तुम्हारी पूर्ति कभी भी किसीसे भी रञ्चकमात्र भी नहीं हो सकती। तुम न तो बाजारू सौदा हो, न तो तुम लेन-देनरूप व्यापार ही हो, तुम तो विशुद्ध प्रेमरसका उछलता हुआ अनन्त समुद्र हो !

'नम्रताकी मूर्ति' श्रीहनुमान्‌जी

(लेखक—श्री स० ना० पाण्डे महोदय)

अधिकांश भगवत्प्रेमी पुरुष पवनसुत हनुमान्‌जीको प्रमुखतः शक्तिके आराध्यदेवके रूपमें ही जानते एवं पूजते हैं। किंतु जैसा विद्याके विषयमें कहा है कि—

विद्या विनयेन शोभते।

—उसी प्रकार नम्रता भी बलवान्‌का ही आभूषण है। बल होना एवं उसका दर्प होना मनुष्यको रावण बना देता है और फिर वह अन्यायी-अत्याचारी हो जाता है। सच पूछा जाय तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति डरपोक होता है, निर्भय कभी नहीं। क्रूरता निर्बलताकी निशानी है। अतः सच्चा बलशाली व्यक्ति अपने बलका प्रदर्शन नहीं करता। उसका बल तो निर्बलोंकी रक्षा, धर्मकी रक्षा एवं आततायीके मर्दनके समय प्रकट होता है या फिर जब उसे कोई शुभ कार्य अपने स्वामीके हितमें करने हेतु ललकारा जाय, जैसा कि जाम्बवंतने समुद्रलङ्घनकी समस्याके समय कहा—

'का चुप साधि रहेहु बलवाना'

तथा—

कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥

पर पर्वताकार अवश्य हुए, गरजे-तरजे भी, किंतु मानसिक संतुलन नहीं खोया। नम्रतापर अधिकार बनाये रक्खा एवं उन्हीं जाम्बवंतसे बोले—'मैं समुद्रको लील सकता हूँ, लाँघ सकता हूँ, बन्धुसहित रावणको मारकर त्रिकूटपर्वतको उखाड़कर अभी ला सकता हूँ, पर—

जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजहु मोही॥

अतः हनुमान्‌जीकी महानता, इतनी उनकी शक्तिमें नहीं थी, जितनी कि उनकी भक्तिमें तथा नम्रतामें। जब रामदलके वीरोंकी यह स्थिति थी कि—

निज निज बल सब काहूँ भाषा। पार जाइ कर संसय राखा॥

ऐसे समयमें भी सबमें शक्तिशाली होते हुए—आप चुप्पी साधे रहे। ऐसा ही 'रामकाज' कर आनेके बाद भी वही नम्रताकी मूर्ति, वही प्रशंसासे पृथक् छिपे

रहनेकी प्रवृत्ति। सुग्रीवसे खुद आगे बढ़कर यह नहीं कहा कि 'हे स्वामी! मैंने आपका दिया काम पूरा किया है तथा मैं सीताका संदेश भी ले आया हूँ।'

पूँछी कुसल कुसल पद देखी। राम कृपाँ भा काजु बिसेषी॥
नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना।

आदि।

ऐसी अंगदने रिपोर्ट दी तथा ऐसी ही रिपोर्ट फिर सुग्रीवने भी श्रीरामको दी कि—

प्रभु कीं कृपा भयउ सबु काजू।.................

तथा—

पवनतनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥

—यद्यपि श्रीरामने हनुमान्‌जीको अपना विशेष (पर्सनल) दूत बनाकर भेजा था अपनी मुद्रिका देकर। अतः श्रीरामको खुद रिपोर्ट देनेका उन्हें अधिकार था। फिर वे सीताजीका विशेष संदेश तथा चूड़ामणि भी तो लाये थे। अतः आगे वढ़कर भेंट कर सकते थे। पर नहीं, रामदलमें उनका चतुर्थ स्थान था—पहले सुग्रीव, फिर जाम्ववंत, फिर अंगद, फिर हनुमान् एवं अपनेसे बड़ोंको सीधे रिपोर्ट देना, करना—अपनेसे वड़ोंका अपमानसूचक होता। फिर हनुमान्‌जी तो नम्रताकी प्रतिमूर्ति थे, तभी तो लंका-विजयपर जाते समय भी सबको शीश नवाकर चले—

यह कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा।

हनुमान्‌जीद्वारा सीताजीकी सुध लानेपर तथा उनका संदेश एवं निशानी प्राप्त कर जब श्रीरा उन्हें अपने निकट बैठाकर प्रेमपूर्वक पूछते हैं—

कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥

तब अभिमानगलित, नम्रताके अवतार श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई॥
नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

इसी प्रकार जब भगवान् श्रीराम कहते हैं कि—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

देखिये, सफलताके चरमविन्दुपर भी दीनता, महावीर होते हुए भी अपने-आपको एक शाखामृग मानना कितनी बड़ी बात है। इसी प्रकार जब सीताजी हनुमान्‌जीके लघु रूपको, साधारण रूपको देखकर परम शङ्का प्रकट करती हैं कि कैसे ऐसी वानरोंकी सेनासे प्रवल राक्षसोंपर श्रीराम विजय प्राप्त करेंगे, तब पुनः ऐसे अवसरपर अपने प्रभुका प्रतापप्रदर्शनके लिये तथा एक दुष्टके चंगुलमें फँसी दुखी माताकी सान्त्वनाके लिये वे अपनी देह अपना पौरुषमय विराट् स्वरूप प्रदर्शित करते हैं—

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अतिबल बीरा॥

पर तुरंत ही, विशाल शक्तिके प्रदर्शनके साथ ही फिर अपने आपको शाखामृग ही कहते हैं—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।

विशालताके साथ लघुताका कैसा अद्भुत समन्वय है, जो विरलोंमें ही पाया जाता है।

फिर यह बात नहीं कि अपने प्रभु या स्वामी लोगोंके सम्मुख ही उनकी यह नम्रता, आत्मश्लाघा या अभिमानसे दूर रहनेकी प्रवृत्ति प्रकट होती हो। यह तो उनका स्वभाव ही बन गया था। तभी तो बेचारे वे दूतगण, जो कि रामसेनाका भेद लेने रावणद्वारा भेजे गये थे, धोखा खा गये, उन्होंने देखा यह हनुमान्, जिसने लंकामें इतना उपद्रव मचाया, एक शान्त एकान्त नगण्य-सा बंदर है। अतः उन्होंने रिपोर्ट दे दी—

जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा॥

पर निरभिमानताका तो परम उत्कृष्ट उदाहरण

उपस्थित होता है तब जब उनकी विभीषणजीसे भेंट होती है एवं विभीषण दीनभावसे कहते हैं—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा ॥

तब परम भक्त हनुमान्‌जी अपने उस महापौरुषको भूल जाते हैं जो कि वे अभी-अभी कर आये हैं। यथा—समुद्रलङ्घन तथा समुद्री राक्षसोंका हनन या मानमर्दन। एवं तुरंत कहते हैं, 'प्रिय सखा विभीषण! सुनो, प्रभु-की शरणमें अधम-से-अधमको स्थान है। मुझको ही देखो न—

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥
अस मैं अधम सखा सुनु·········।

इस प्रकार महावीर विक्रम बजरंगी अपने-आपको एक परम साधारण बंदरसे अधिक कुछ नहीं मानते। वे तो अपना बल श्रीरामको मानते थे एवं अपनी गरिमा एक नदीकी भाँति शक्तिके पुञ्ज श्रीरामरूपी समुद्रमें खोकर, अपने-आपको हल्का पाते थे। इसीलिये हर कार्यके पूर्व उन्होंने श्रीरामका स्मरण किया एवं सुगमतापूर्वक अभिमानसे रहित होकर विलक्षण कार्य किये। यही शायद उनकी अभयताका भी कारण था। तभी तो मेघनादद्वारा बाँधे जानेपर, रावण-दरबारमें सभीत दिक्पालोंको, वरुण, कुबेरको हाथ जोड़े देखकर भी, उन्होंने—

जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका।

—प्रवेश किया एवं रावणको निर्भय उपदेश देते हुए कहा—

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा ॥

...ठीक है, पहले ही तुलसीने कहा है—

प्रभु कारज लगि कपिहिं बँधावा।

पर रामायणमें एक प्रसंग ऐसा अवश्य आता है, जिसमें श्रीहनुमान्‌जीको कुछ क्षणोंको अपने बलका घमंड आ जाता है। ऐसा प्रसंग लक्ष्मण-शक्तिके समय जड़ी लेकर आते हुए भरतद्वारा बाण मारे जानेपर एवं उनके द्वारा त्वरित उन्हें भेजनेके हेतु अपने बाणोंपर बैठनेका आह्वान करनेपर होता है।

सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरें भार चलिहि किमि बाना॥

किंतु श्रीरामके प्यारे एवं अनन्य भक्त एवं सेवकको घमंडका स्पर्श ही आश्चर्यकी बात है, उसका टिकना तो असम्भव ही है। अस्तु—

राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥

राम-प्रभावकी स्मृति होते ही उनके संशयका तुरंत नाश हो जाता है।

रावण-जैसे महाबलशालीसे टक्कर लेना एवं उस विशाल शैलकायको भी अपनी एक मुष्टिका-प्रहारसे धराशायी कर देनेवाले पवनसुतके महापराक्रमकी बरबस दैत्य-सम्राट् रावणको भी बड़ाई करनी पड़ी—

मुरुछा गै बहोरि सो जागा। कपि बल बिपुल सराहन लागा ॥

पर वे ही—

'अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं।'

परम दीनतापूर्वक प्रभुसे परिचयके समय कहते हैं—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।

अस्तु, इससे यही सिद्ध होता है कि पवनसुत हनुमान् न केवल एक आदर्श सेवक, निर्मल हृदय संत तथा श्रेष्ठ भक्त थे; वरं अतुलित बलके धाम होते हुए ही वे विनय, नम्रता और सौजन्यताकी साक्षात् मूर्ति हैं। अतुलनीय शक्तिके साथ विनम्रताका रहना ही वास्तविक विनम्रता है!

जी भर कर हँसिये

(लेखक—श्रीवेदव्रतजी दीक्षित, एम्० ए०, एल्०टी०)

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो हँसना जानता है। हँसना ईश्वरीय वरदान है, इसलिये इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

शिशु जन्मके कुछ दिनों बादसे मुस्कराने लगता है। हँसी बीस सप्ताह तकके बच्चेमें नहीं देखी जाती। आरम्भमें मुस्कराने और हँसनेकी क्रियामें श्वसन-संस्थान और चेष्टा-तन्तुओं (Motor Neurous) की विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ कारण होती हैं। बादको अभ्याससे इनका समाजीकरण हो जाता है।

ठीक समयपर हँसना इस बातका परिचायक है कि आपको सामाजिकताका ज्ञान है। लोग हँसकर, मुस्कराकर मित्र बनाते हैं और दुश्मन भी पैदा करते हैं।

आप हँसीके द्वारा अपने मनोभावकी सूचना दूसरोंको देते हैं। हँसना कभी आपकी शुभेच्छाका, कभी मजाकका, कभी मूल आनन्दका और कभी खीझनेका भी परिचायक हो सकता है। कभी-कभी लोग अपने मनोभावको छिपानेके लिये भी हँसते हैं। हँसना सांकेतिक भाषाका एक अङ्ग है।

हँसना स्वास्थ्यके लिये अच्छा है। दीर्घायु प्राप्त करनेवालोंमें निश्छल भावसे हँसनेका गुण प्रायः देखा गया है। यह कुछ आन्तरिक-शारीरिक अवयवोंके लिये अच्छा व्यायाम है।

आप हँसते हैं जब कि कहीं कोई ऐसी कमी या गड़बड़ी देखते हैं जिससे अपनी वास्तविक हानि या क्षतिका अनुभव नहीं करते। दया कर लोगोंकी ऐसी कमियोंपर कम-से-कम उनके सामने मत हँसिये जिनपर उनका वश नहीं है—जैसे अङ्गहीनता, कुरूपता और हकलाहट।

कहते हैं कि एक बार काले-कुरूप, शीतलाके दागोंसे भरे मुख और एक आँखवाले कवि 'जायसी'को देखकर बादशाह शेरशाह अपने भरे दरबारमें हँस पड़ा था। कविने पूछा—

'मोंहिका हँसेसि कि कोहरेहिं।'

—मुझको हँसते हो या कुम्हार (ईश्वर) को? शेरशाहके पास कोई जवाब नहीं था।

कहीं आप इतने जोरोंसे तो नहीं हँसते कि लगता हो अभी छत टूटकर गिर पड़ेगी? यह भी हो सकता है कि आप हँस रहे हों और दूसरोंको रोनेका भ्रम होता हो। यह सच है कि कुछ लोगोंको हँसना नहीं आता।

हँसनेके समय, कोई भी हो, मुख प्राकृतिक रूपसे अधिक सुन्दर लगता है। यदि हँसनेके बीच मुखपर तनाव दिखलायी पड़े, मुखाकृति पहलेसे भद्दी हो जाय तो संकोच, व्यंग, भय, दमन (Repression) या मनो-ग्रन्थियोंकी आशंका करनी चाहिये। अकारण रुक-रुक कर हँसनेवाले आत्मदमनके पीड़ित होते हैं। कुछ लोगोंमें इस प्रकार बेहद हँसना मानसिक बीमारीका चिह्न होता है।

विकृत हास्य प्रायः ऊपर लिखी गयी बातोंका सूचक होता है।

× × ×

इन साधारण-सी बातोंको जानकर आप जी भर हँस सकते हैं, जरूरत भर हँस सकते हैं। भूलिये नहीं कि निश्छल हँसीका एक भी क्षण दैवी कृपाके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। हँसना कितनी साधारण-सी बात है और मनोविज्ञानकी दृष्टिसे कितना असाधारण? अनायास तुलसीकी पंक्ति याद आती है—

कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभुके एक-एक उपकार।

सबसे न्यारा प्यार तुम्हारा !

(रचयिता—प्रो० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० [द्वय])

सबसे ऊँचा, सबसे सच्चा, सबसे न्यारा प्यार तुम्हारा !
भला-बुरा हम जो कह देते,
तुम चुपचाप उसे सह लेते;
फूल तुम्हें दें या दें काँटे, तुमको सब स्वीकार हमारा !
बात तुम्हारी कभी न मानी;
चलते रहे राह मनमानी,
फिर भी कभी शिकायत क्या की ? कितना हृदय उदार तुम्हारा !
जब-जब प्रिय, अस्वस्थ हुए हम,
तुमने हमें सिखाया संयम;
कटु-मधु ओषधिसे तुम करते नित समुचित उपचार हमारा !
दिये सदा तुमने बहुविध सुख,
मिले तुम्हें हमसे दुख ही दुख;
तो भी विमुख कभी न रहे तुम, यह क्या कम उपकार तुम्हारा ?
स्थिर इस जगका प्यार न पाया;
मिली मोहकी चञ्चल छाया;
किंतु मुड़ा जब, निश्चल निर्मल मिला स्नेह-संसार तुम्हारा !
सुखमें हमने तुम्हें भुलाया,
दुखमें तुमने पास बुलाया,
हृदय जानता है केवल यह कितना है आभार तुम्हारा !
झूठे सुखसे नित सम्मोहित,
हम न सोच पाते अपना हित;
ठुकराया हमने आमन्त्रण प्रियतम ! कितनी बार तुम्हारा !
हरदम प्रीति तुम्हारी बरसी,
पर अचेत यह आत्मा तरसी;
खुला हुआ था जाने कबसे करुणामय दरबार तुम्हारा !
जबसे परखी प्रीति तुम्हारी;
निज आत्मा-निधि तुमपर वारी;
हम बिक चुके तुम्हारे हाथों अब तो है अधिकार तुम्हारा !

संत श्रीजयमलदासजी

[भूल-सुधार]

(लेखक—सिंहस्थल रामस्नेहीसम्प्रदायाचार्य-प्रधान-पीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीभगवद्दासजी शास्त्री)

'कल्याण' वर्ष ४० के चौथे अङ्कमें डा० शालिग्रामजी गुप्तका एक लेख 'संत जयमलदासजी व उनके पद' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, जो रामानन्दीय एवं सिंहस्थल रामस्नेही-पद्धतिसे विपरीत है । अतएव सिंहस्थल-खेड़ापाके परम्परानुसार जो मान्यता चली आ रही है उसके अविकल उद्धरण (मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थोंसे) देकर वास्तविक तथ्यको प्रकाशित किया जाता है । श्रीसम्प्रदायान्तर्गत श्रीरामानुज-स्वामीकी २३वीं पद्धतिमें श्रीरामानन्दजी महाराज हुए । इन्हीं श्रीरामानन्दजीकी १०वीं पद्धतिमें रामानन्दीय वैष्णव महन्त श्रीचरणदासजी महाराज कोडमदेसर (बीकानेर) में हुए । वे वहीं रहा करते थे । इसी तरह ११वीं पद्धतिमें श्रीजयमलदासजी महाराज इन चरणदासजीसे दीक्षित होते हैं । नीचे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(१) रामानन्द अनन्तानन्दं करमचन्द देवाँकर,
पूरण माळवी शिष्य दामोदरदास उजागर ।
नारायण मोहनदास दास माधो मैदानी,
ता सिष सुन्दरदास चरणदास निज ज्ञानी ॥
जिन जैमल" प्रगटे नमो, हरिरामदासके सब सुतन ।
रामदास बन्दन करत, पदपंकज अनुचर यतन ॥

(रामस्नेही धर्मप्रकाश—पृष्ठ ४)

(२) पुरणदास प्रताप, देस माळागर पावन ।
दास दमोदर पाद, रामचर्चा गुन गावन ॥
नारायण मोहनदास, दास माधो गुणसागर ।
सुन्दर चरणेहु दास, जीव केतान उजागर ॥
भरतखण्ड मुरधर धरा, पतितपार तिम अघ हरण ।
देवाकर शाखा अघट, राम भगत परगट करण ॥
तम्बू अधर अकास, दलीचा अवन सदाई ।
विचरत सहज सुभाय, जगत परवाह नहिं काई ॥
मैदानी मैदान रता, हर गुरके आसै ।
क्षेत्रपाळ सिष भयो, भगतजन भाव प्रकासैं ॥
प्रचुर कथा जग जस बढ़त, कोडमदेसर बार सत ।
हंसदसा आरूढ मत, माधोदास अपार गत ॥४१॥
भक्तपुंज परसिध, उदय आंकूर सवाया ।
परसन भये दयाळ, रूप गूदड़ धर आया ॥
जेतराम जळ पाय, पंथ संत भेद बताया ।
राम राम मुख ध्यान, सिंवर परचै पद पाया ॥
उलट मिलै सुन सिखर घर, अनुभव गिरा उचार सत ।
जय जय जैमलदास गुरु, घट बिच अघटा पाय तत ॥४२॥

(श्रीदयालजी महाराजकी 'भक्तमाल' अप्रकाशित)

(३) रामानन्द वन्दि दास, वन्दन अनन्तानन्द,
बन्दौं कर्मचन्द देवाकर सुखकन्दको ।
पूरण ही मालवी जु दामोदर दास बन्दौं,
नारायणरु मोहन बन्दौं तजि द्वन्दको ॥
बन्दौं जन माधोदास, सुन्दर चरणदास,
जैमलरु हरिराम बन्दि बन्दौं ता नन्दको ॥

(रामस्नेही धर्मप्रकाश—पृष्ठ ३२४)

(४) माधवदासके सेव सदा उर, गुरुदेव स्थापन मेरे वो ही ।
इष्ट गोतन्त्र पितृ सुर पूजन, काज कल्याण प्रजात सुकोई ॥
गंग जमन नहवाइ जु बाहिमें, चित्र पवित्र मनोरथ सोई ।
सो गुरुदेव नमो निज स्वामि जु, मेरी तो साथ उन्हीं ते होई ॥
ताहिके सुन्दर पाट विराजत, गाजत इन्द जु ग्यान अपारो ।
सार सिरी मन नित्य पिछानत, सुन्दर होइकै सुन्दर न्यारो ॥
पाँचहुँ तीन किये घर सुन्दर, सुन्दर चित्त चलै न कदारो ।
सो गुरुदेव नमो निज स्वामिहु, नन्द अनन्दमें काज सुधारो ॥
चित्त चरण शरणको पालक, दास चरण चरण भयो है ।
प्रेमहु प्रीत जगी जिनके घट, द्वैत विवाद सु दूरि गयो है ॥
बुद्धिप्रवीन अपार दियै जिन, आप उद्योत प्रकास लयो है ।
रीति सुरीति सदा सन्त सेवत, मेव समेव अखण्ड रह्यो है ॥
तासु प्रसाद नमो जिहि जैमल, बंस प्रजापति आप बन्यो है ।
ज्ञान विज्ञान को देखि सबैपर, कामरु क्रोधको दूरि हन्यो है ॥
दत्तदयालु सो मत्त को धारक, सिद्ध कपिल सो ध्यान गन्यो है ।
सो गुरुदेव नमो जिह स्वामिहु, आप अविगत तत्त मन्यो है ॥१३॥

(गुरुप्रकरण परची-वैभव-वर्णन पृष्ठ ४)

(५) अनन्तानन्द के नमो करमचन्द, ताके देवाकर विन परसिध ।
पूरण माळवी दास दमोदर, ता नारायण दास कुळोधर ॥
मोहनदास तासु सिष पुरा, अग्रज माधोदास हजूरा ।
मैदानी के सुन्दरदासा, चरणदास ता चरण निवासा ॥
जय जय जैमल"दास प्रवीना, आतम परचै पद लवलीना ॥२९॥

(गुरुप्रकरण परची—पृष्ठ ४)

(६) क्रमशः १ से ८ के बादके (छन्द)

ध्यान माधोदास धारयो, मंड जाय मैदान ।
आकास ओढण भूमि पोढण, दसो दिस बखान ॥
तो परवान जी परवान, त्याग वैराग में परवान ॥ ९ ॥

किये नख सिख सर्व सुन्दर, ध्यान सुन्दर वार।
बाद विरोध विकार परिहर, दिये द्वन्दर मार॥
तो चित च्यार जी चित च्यार, निर्मल किये मन चित च्यार॥१०॥

चरणदास बिचार बाणी, राम चरणाँ चित्त।
अल्पसुख संसारको, निज नाम साचो वित्त।
तो बड़ कृत्त जी बड़ कृत्त, सन्तो चरण की बड़ कृत्त॥११॥

नमो जैमलदास स्वामी, बड़े धीर गंभीर।
धार जन अवतार अवनी, मेटणा पर पीर।
तो सुख सीर जी सुख सीर, अमृतधार की सुख सीर॥१२॥

(रामस्नेही धर्मप्रकाश, पूरणदासजीकी वाणी—पृष्ठ ३०८)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि श्रीजयमलदासजीके गुरु, श्रीसुन्दरदासजीद्वारा दीक्षित कोडमदेसर (बीकानेर) निवासी श्रीचरणदासजी ही थे। श्रीशुकदेवजीके द्वारा दीक्षित चरणदासजी, जो सं० १७६० में उत्पन्न हुए थे, इनके गुरु नहीं हैं। उनके विषयमें उत्तरी भारतकी संत-परम्परा-में पृष्ठ ७१८ पर ग्रन्थकारने लिखा है कि "मेरा जन्म 'डेहरे'में हुआ था। पूर्व नाम रणजीत, पिताका मुरली था। जाति दूसर थी। घूमता हुआ मैं दिल्ली आ गया जहाँ शुकदेवजीके दर्शन हुए और उन्होंने मेरा नाम चरणदास रख दिया।" इसी बातको स्वीकार करते हुए 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'में पृष्ठ ३०१ पर मोतीलालजी मेनोरिया कहते हैं कि— "इनका जन्म मेवात प्रदेशके 'डेहरा' नामक ग्राममें सं० १७६० के लगभग हुआ था। लोग इन्हें ब्राह्मण और कुछ दूसर बनिया बतलाते हैं।" इन्होंने चरणदासी पंथ चलाया और इनके ५२ शिष्य हुए और ये १८३८ में परलोक सिधारे। इनकी गद्दियाँ अनेक स्थानोंपर हैं। इन्होंने १४ ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनमें कहीं भी जयमलदासजीका नाम नहीं है। अतः काल-व्यतिक्रमसे भी ये जयमलदासजीके गुरु नहीं होते हैं।

श्रीजयमलदासजी कोडमदेसरसे चरणदासजीसे दीक्षित होनेपर साँवतसर नामक ग्राममें जो बीकानेर रियासतमें है, जाकर मन्दिरकी सेवामें लगते हैं। इनके एक शिष्य रामदास-जी इसी समयमें होते हैं जो बादमें अयोध्या प्रस्थान कर जाते हैं। सं० १७६० के चातुर्मासमें आप कथा कर रहे थे। घटना साँवतसर ग्रामकी है। इसी कथामें एक दिन 'गूदड़-रूप'से भगवान्का पधारना जयमलदासजीने वर्णन किया है। उद्धरण प्रस्तुत है—

प्रश्न—(हरिरामदासजीका)—

(७) प्रथमहिं भक्ति सगुण तुम साधी। सो सब तजी कवन परसादी॥
निर्गुण भक्ति लही प्रभु कैसे। सो गुरु कहो कृपा करि जैसे॥

उत्तर—

सुन सिष कहौं यथारथ सहते। जब हम साँवतसरमें रहते॥
वहाँ एक पंथीजन आये। नाम गृहस्थ मोहि वतलाये॥
जेतराम जलू पावो वालं। ऐसे बचन कहे तत्कालं॥
जबहीं जलु तुंबी भर लायो। तब मैं महापुरुष को पायो॥
महापुरुष बोले पुनि बैना। मो को पंथ बताय सु देना॥
जब मैं पंथ बतावन काजा। चल्यो साथ में ले महाराजा॥
चलत चलत पंथनमें संगा। पूछ्यो एक मोहि परसंगा॥
साधन कथा करौ तुम भाई। सो मोहि अवधू कहौ सुनाई॥
जब मैं कही ताहि विधि सारी। पाठ करूँ अर सेव मुरारी॥
सेवा पूज करी अब ताँई। निश्चय भयो कि तेरे नाई॥
तब मैं पूछत भयो सुमेवं। निश्चय मोहि बतावो देवं॥
महापुरुष समीप्य बोलायो। राम राम निज मंत्र सुनायो॥
ब्रह्ममिलनकी युक्ति बताई। सेवा पूजा सकल छुड़ाई॥
धारी सुरत मूँद कर नैना। लागी राम भजन लिव लैना॥

(रामस्नेही धर्म-प्रकाश, पृष्ठ ३३६)

इस तरह इन्हें यह १७६०में भगवद्दर्शनोपदेश हुआ है; श्रीचरणदासजीद्वारा गुरुदीक्षा नहीं। चरणदासजीद्वारा गुरुदीक्षा तो इससे पहले ही हो चुकी थी। अब तो वे निर्गुण भक्ति-प्रवर्तक बने थे। तदुपरान्त श्रीजयमलदासजीके श्रीहरिरामदासजी ही शिष्य हुए हैं, जिन्होंने आपसे 'तारकमन्त्र' विक्रम संवत् १८०० में लिया है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक होगा कि 'कल्याण'के उपर्युक्त लेखमें इस दीक्षा-संवत् १८०० को भी असंगत बतलाया है और इसके प्रमाणमें उन्होंने आधारस्वरूप 'हरियशमणि-मंजूषा' नामक पुस्तकमें मुद्रित आशारामजीकृत लावणी पृष्ठ ४८६ को लिया है। पर उनका यह कथन भी असङ्गत है। श्रीहरिरामदासजी महाराजको दीक्षा वस्तुतः १८०० में ही हुई थी, यह तथ्य प्रमाणपुष्ट है। प्रमाणस्वरूप यहाँ निम्न उद्धरण पर्याप्त होंगे—

(८) एक मिले सागर समत, बरस सईको बंद।
आसापूरण पास धिन, कृष्ण त्रयोदसि कंध॥

(गुरुप्रकरण परच-वैभव-वर्णन, पृष्ठ ६)

[एक (१) सागर (७) सईको (१००) कुल १८००]

(९) सम्वत सत्रहसे वर्ष सईको, मास अषाढ़ मास मद नीको।
बदि तेरस दिन सुदिन सदाई, रामकृपा गुर दीक्षा पाई ॥
(गुरुप्रकरण परची, पृष्ठ १७)

(१०) पंच ग्राही परसिध, जीव तारण महाराजा,
आन कुपंथ मिटाय पंथ भगवद्‌ सिध काजा।
आपा भरम मिटाय, करमकी सीव मिटाये।
विश्नोई सिष किये, तास मुख राम रटाये ॥
संमत सत्रह सई मरू समौ, आधि व्याधि जीवां हरी।
राम नाम परताप धिन, जैमल शाखा विस्तरी ॥
वरस सईको सुदिन मास आषाढ़ उज्यागर।
वद तिथ तेरस उदय ज्ञान गुरदेव कृपाकर ॥
आदि भगतको अंस तारण जीवां हित आये।
गुर पद मिल पद परस, ब्रह्म परचे तत पाये ॥
निरविकार निरभै भया, जीव सीव मिल नहि भिन्न।
जयमालदास प्रताप पद, ताप भये हरिराम धिन ॥४४॥
(दयालजीकी 'भक्तमाल' अप्रकाशित)

इससे स्पष्ट होता है कि श्रीहरिरामदासजीको दीक्षा श्रीजयमलदासजीसे १८०० में ही होती है, जैसा कि स्वयं श्रीहरिरामदासजी महाराजने अपने ग्रन्थ 'घघर निसाणी'— में व्यक्त किया है—

हरिया संवत सत्रहसे वरष सईको जान।
तिथि तेरस आषाढ़ बदी सतगुर पड़ी पिछान ॥

यहाँ उक्त दोहेके बारेमें भी कुछ कहना अत्यावश्यक हो गया है। 'उत्तरी भारतकी संत-परम्परा'—पृष्ठ ६७१ एवं 'कल्याण' वर्ष ४०, अङ्क ४, पृष्ठ ८७६ में 'दरिया' शब्द छपा है जो भूल है, वह असलमें 'दरिया' न होकर 'हरिया' होना चाहिये। प्रमाण हस्तलिखित प्रतियाँ तथा मुद्रित ग्रन्थ है। उनकी दीक्षाको १८२० प्रामाणिक मानें तो वह निराधार सिद्ध होती है। डॉ० शालिगरामजी अपनी इस बातको प्रामाणिक ठहरानेके लिये 'हरियशमणिमंजूषा'की आशारामजीकृत लावणीका यह दोहा प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं। किंतु उन्होंने इस दोहेमें आये हुए 'द्यौ' को 'द्वै' लिखा है जो अशुद्ध मुद्रित था। शुद्ध यों है—

व्योम द्यौ सिधि चन्द्र अंका। जानिय संवत् गति बंका ॥

इसी पद्यांशका अन्वय यों होगा—व्योम (शून्य०) द्यौ (०) सिद्धि (८) चन्द्र (१) अर्थात् १८००। स्वयं आशारामजी इसी लावणीमें लिखते हैं—

अठारा छक्का जब आयन। शिष्य तब आये नारायन ॥
बरस जब बीत गये फिर तीन। शिष्य भये रामदास परवीन ॥

प्रसङ्गको देखते हुए निम्न पंक्तियाँ भी उस ओर प्रकाश डालनेमें सहायक होंगी—

सम्वत अठारह प्रसिध बरस नवको भल आयक।
शुक्ल पक्ष वैशाख तिथि एकादश कायक ॥
ता दिन उदय उद्योत, परस सतगुर पद पूग।
आप आप मिल आप, राम भज उदय अंकूरा ॥
सतगुर मिल सतगुर भया, बालबाल भर ध्यान चित।
भक्तसमौ भूमंडमें, बल बल वारूँ बार मित ॥
(बालजी महाराजकी 'भक्तमाल' अप्रकाशित)

एक उदाहरण और प्रस्तुत है—

संगत अठारह भल भल आयो। नो के बरस पदारथ पायो ॥
मास वैसाष शुक्ल पप माहीं। एकादसी तिथि सुखदाई ॥
उदय प्रभात अरथ सिधि जा दिन। गुरु हरिराम कृपा की ता दिन ॥
रामदास तो नाम सदाई। राम सनेह संगति के माहीं ॥
(गुरुप्रकरण परची, पृष्ठ १४)

जब श्रीहरिरामदासजी महाराज रामस्नेही शाखा (खेड़ापा) के प्रवर्तक श्रीरामदासजीको दीक्षा १८०९ में देते हैं, तो स्वयंको श्रीजयमलदासजीसे १८२० में दीक्षित किस तरह करवा सकते हैं? इससे सिद्ध है कि हरिरामदासजीको दीक्षा १८०० में हुई। इससे पहले श्रीजयमलदासजीको सगुण दीक्षा श्रीचरणदासजी (कोडमदेसर) द्वारा होनेके उपरान्त १७६० में निर्गुणप्रद भगवद्दर्शन दीक्षा हुई थी। तबसे आप दुल्चासर एवं रोड़ा (दोनों ही बीकानेर रियासतमें हैं) नामक ग्रामोंमें ही विराजमान रहे। यहींपर १८१० में आपका परमधाम-गमन होता है, जिसके प्रमाणस्वरूप रोड़ा ग्राममें चरणपादुका एवं देवल विद्यमान हैं। इससे भी श्रीहरिरामदासजीका १८२०में दीक्षित होना असंगत सिद्ध हो जाता है।

यदि इससे भी पूर्व प्रमाण मानें तो 'कल्याण' वर्ष १२ अङ्क १ पृष्ठ ६२६ पर दीक्षाकाल १७०० लिखा गया है। इसी तरह 'कल्याण' वर्ष २६ अङ्क १ पृष्ठ ४४९ पर भी तथा 'कल्याण' वर्ष २९ अङ्क १ पृष्ठ ४०९ पर भी हरिरामदासजीका दीक्षा-संवत् १७०० ही लिखा गया है। किंतु इनमें भी संयोगवश भूलसे ही ऐसा लिख दिया गया है और पूर्वकथित दोहे 'हरिया संवत् सतगुरु पड़ी पिछान' के अंश 'हरिया संवत् सत्रहसे' को ही लेकर लिख दिया गया है, आगेका अंश 'बरष सईको जान' बिल्कुल ही अछूता रह गया है। अतः यहाँ भी १८०० ही होना चाहिये।

श्रीजयमलदासजी महाराजके पद सम्पूर्ण अद्यावधि उपलब्ध ४७ हैं। जिन्हें कुछको 'रामस्नेही धर्मप्रकाश' में,

एवं कुछको 'हरियश-मणिमंजूषा'में मुद्रित किया जा चुका है तथा कुछ पद मुद्रित नहीं हो पाये हैं। अब आपके समग्र पदोंका संकलन श्रीजयमल्लदासजी महाराजके निर्गुणपद नामक पुस्तकके आकारमें छप रहा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

अब तो यह स्पष्ट हो ही गया है कि जयमलदासजीके गुरु श्रीशुकदेवजीके द्वारा दीक्षित श्रीचरणदासजी न होकर, रामानन्दीय सुन्दरदासजीके शिष्य श्रीचरणदासजी हैं। श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदीने अपनी 'उत्तरी भारतकी संत-परम्परा' (द्वितीय संस्करण) नामक पुस्तकमें पृष्ठ ६६९ पर मेवात-निवासी चरणदासजीका शिष्य होना जयमल्लदासजीके लिये नहीं लिखा है; किंतु उन्होंने लिखा है कि 'इनके दीक्षा-गुरु जयमलदासजीके लिये कहा जाता है कि वे प्रसिद्ध स्वामी रामानन्दजीकी ११वीं पद्धतिवाले कोडमदेसर (बीकानेर) निवासी चरणदासजीके शिष्य थे। उन्होंने उनसे अपनी दीक्षा संवत् १७६० में किस समय ग्रहण की थी।'

इसपर 'श्रीरामदासजीकी वाणी'के प्रधान सम्पादक श्रीहरिदासजी शास्त्री दर्शनायुर्वेदाचार्य बी० ए० ने अपने सम्पादकीय वक्तव्यमें पृष्ठ ७ पर लिखा है। 'अठारहवीं शताब्दीमें इनका आविर्भाव माना जाता है।' इससे हमें ज्ञात होता है कि संत श्रीजयमलदासजीकी प्रथम (सगुण) दीक्षा श्रीचरणदासजी कोडमदेसर (बीकानेर) निवासीद्वारा सम्भवतः वि० सं० १७४०–५० के लगभग हुई होगी और यही सही जान पड़ती है।

इनका मेवात-निवासी श्रीचरणदासजीका शिष्य होना तो नितान्त असम्भव एवं कल्पनामात्र कहा जा सकता है। मेवात-निवासी चरणदासजीका तो एक पंथ ही अलग है जिसे 'चरणदासी' नामसे पुकारा जाता है और जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, उनके १४ ग्रन्थोंमें कहीं भी श्रीजयमलदासजीका नाम नहीं है और न ५२ शिष्योंमें ही श्रीजयमलदासजीका नाम कहीं आता है।

किंतु उक्त विवरणसे श्रीजयमलदासजीको रामस्नेही-सम्प्रदायका प्रवर्तक मानना भी ठीक नहीं है। रामस्नेही-सम्प्रदायके मूल आचार्य कौन हैं ? इस विषयमें जैसा कि 'रामस्नेही-मत-दिग्दर्शन'के रचयिता श्रीउत्साहरामजी प्राणाचार्य पृष्ठ १५ पर लिखते हैं—'.........अतः अब यह स्वयं सिद्ध है कि रामस्नेही-सम्प्रदायके मूल आचार्य श्रीजयमलदासजी महाराज हैं।' किंतु उनका यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है; क्योंकि श्रीजयमल्लदासजी महाराजको सम्प्रदायकी सभी शाखाओं एवं उपशाखाओंमें गुरुका स्थान दिया गया है, न कि रामस्नेही-सम्प्रदायके प्रवर्तकका। रामस्नेही-सम्प्रदायके प्रवर्तक तो इनके शिष्य श्रीहरिरामदासजी महाराज हैं। इसी बातको 'श्रीआचार्यचरितामृत'कार श्रीहरिदासजी शास्त्री पृष्ठ १०८ पर कहते हैं कि 'श्रीजयमलदासजी महाराजके 'परमधाम' पधारनेपर आपके शिष्योंने रोड़ा दुल्चासरमें दो गुरुस्थान माने हैं। आजतक भी इन रोड़ा दुल्चासर दो स्थानोंमें दो गुरुगद्दियाँ चली आती हैं। यहाँके महंत रामावत बैरागियोंके महंत कहलाते हैं। गुरु-परम्पराके अनुसार ये दोनों ही रामस्नेही-मतावलम्बियोंके गुरुस्थान माने जाते हैं।'*

चूँकि ये रामस्नेही-धर्मप्रवर्तक एवं मूलाचार्य श्रीहरिरामदासजी महाराजके गुरु थे; अतः इन्हें गुरुके रूपमें आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है तथा सिंहस्थल-खेड़ापा दोनों ही स्थानोंमें नित्यप्रति होनेवाले वाणीपाठ तथा विशेष अवसरोंपर भी सर्वप्रथम श्रीजयमलदासजी महाराजकी वाणीका पाठ ही होता आ रहा है। पाठ-क्रम इस प्रकार है—

सिंहस्थल-वाणी-पाठक्रम—

श्रीरामानन्दजी महाराज, श्रीजयमलदासजी, श्रीहरिरामदासजी, श्रीनारायणदासजी, श्रीहरदेवदासजी, श्रीरामदासजी, श्रीदयालजी, श्रीकबीरजी, श्रीनामदेवजी, श्रीरैदासजी आदि-आदिकी वाणीका क्रमशः पाठ।

---

* रामस्नेही-सम्प्रदायके एक परम आदरणीय महानुभावने बतलाया कि श्रीजयमलदासजी महाराज पहले सगुणोपासक थे और रोड़ा तथा दुल्चासर नामक दो स्थानोंमें जो गद्दियाँ हैं, वे उसी समयकी स्थापित हैं। पीछे भगवान्‌ने दर्शन देकर जब उन्हें राम-मन्त्रका एक विशेष पद्धतिसहित उपदेश किया तबसे वे निर्गुणोपासक एवं निर्गुणभक्तिके प्रवर्तक हो गये।

इस स्थितिमें हमारी समझसे रामस्नेही-सम्प्रदायके मूल प्रवर्तक और आचार्य श्रीजयमल्लदासजी महाराजको ही मानना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने उन्हींको मन्त्र दिया और वही रामस्नेही-सम्प्रदायका मन्त्र तथा नामजप-पद्धति है। अवश्य ही एकमात्र श्रीहरिरामदासजी ही श्रीजयमल्लदासजी महाराजके शिष्य हैं और रोड़ा तथा दुल्चासरकी गद्दियाँ उनके सगुणोपासक रहनेके समयकी हैं अतएव सम्प्रदायका मूल स्थान सिंहस्थल ही है। श्रीजयमलदासजी महाराज श्रीहरिरामदासजीके गुरु थे, इसलिये उनके पूर्वस्थापित गद्दियोंको गुरुगद्दी माना जाना भी उचित ही है।—सम्पादक

खेड़ापा—वाणी-पाठक्रम—

श्रीरामानन्दजी महाराज, श्रीजयमलदासजी, श्रीहरिरामदासजी, श्रीरामदासजी, श्रीदयालजी, श्रीपूरणदासजी आदि-आदिकी वाणीका क्रमशः पाठ।

इसी तरह अन्य शाखाओंमें श्रीरामानन्दजी महाराज, श्रीहरिरामदासजी, श्रीरामदासकी वाणियोंका पाठ कर लेनेके उपरान्त अपने आचार्योंकी वाणीका पाठ किया जाता है।*

इस प्रकार सदियोंसे चले आ रहे वाणी-पाठक्रमसे यह पता चलता है कि श्रीजयमलदासजी महाराजको श्रीगुरुजीके रूपमें और इनके शिष्य श्रीहरिरामदासजी महाराजको 'प्रधान आचार्य' माना जाता है।

विशेष जानकारीके लिये 'रामस्नेही-धर्म-प्रकाश' नामक पुस्तकका अध्ययन कीजिये। पता है—बड़ा रामद्वारा, बीकानेर।

उदात्त सङ्गीत

[हरियाली देखो]

(रचयिता—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

(१)

खैयाम आदिने बोतलमें मस्ती देखी,
कविकुल गुरुतकने नीवि-मोक्षको मोक्ष कहा।
यह मस्ती और मोक्ष तो अन्तरका धन है,
कब सुरा-सुन्दरीमें इनका अस्तित्व रहा?॥

(२)

अहि-दंष्ट्र नीमको मीठी ही बतलाता है,
विषयातुर क्या जानेगा मोक्षकी मस्ती क्या?
अविनश्वर प्रियतमके प्रेमीसे तुम पूछो
यह इश्क-परस्ती अथवा हुस्न-परस्ती क्या॥

(३)

जो खण्ड खण्ड है, वह अखण्ड सुख क्या देगा?
क्षणभंगुर भोगोंको भोगो मर्यादासे।
गङ्गाका उद्गम बूँदों बूँदोंको भटके?
है सुधा-सरोवर तुममें, फिर भी तुम प्यासे?

(४)

बादलके रंगोंकी सुन्दरता देखो, पर
उसको मुट्ठीमें भरनेका मत यत्न करो।
जिसकी किरणोंसे ऐसे रंग उभरते हैं,
उस ज्योतिर्मयहीको तुम अपना रत्न करो॥

(५)

देहों-देहोंका अलग-अलग बटवारा है,
अधिकार नहीं है एक अन्यका हरण करे।
व्यापक समाजमें यदि मानवको रहना है
तो क्षुद्र स्वार्थका वह पहिले संवरण करे॥

(६)

न्यायोचित भोग तुम्हारे जो हैं इस जगमें,
जिनके भोगोंमें मन-संतुलन न खोता हो।
आनन्दसहित ऐसे भोगोंको तुम भोगो,
जिनके भोगोंके बाद विवेक न रोता हो॥

(७)

जगका सारा सौंदर्य उसी प्रियतमका है,
फिर हम विरक्त क्यों बनें, न क्यों उसका रस लें।
रस देनेहीके लिये विश्व वन वह फैला,
हाँ, लक्ष्य रहे यह उसे न निजतक ही कस लें॥

(८)

यदि ब्रह्म-जीवके चिन्तनमें चक्कर आये
तो मायाहीका प्रकृत प्रेम व्यापक कर लो।
मस्तीका सुरस चखनेको है बहुत वही
जो उतनी भी सौंदर्य-सुधा उरमें भर लो॥

(९)

दिनकी हलचल है, रातोंका विश्राम मधुर,
वृक्षोंका झूम-झूमकर मधु बरसाना है।
मानव-मनके आकर्षणको क्या क्या न यहाँ
पशुओंकी धुन है और खगोंका गाना है॥

(१०)

दोरंगे पक्षोंपर उड़ती रहती दुनिया,
यदि एक अश्रुसे सिक्त तारसे अन्य भरा।
क्यों हार हारकर पीला पक्ष पकड़ते हो?
हरियाली देखो, जिससे हो ले चित्त हरा॥

* 'श्रीजयमलदासजी महाराजके पद' 'कल्याण'के अगले अङ्कसे दिये जायँगे।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

परहितव्रती जीवन

ये थे जिला गोरखपुर, चौरीचौरासे दक्षिण, ग्राम ब्रह्मपुरके पास एक छोटी-सी बस्ती पिपरहियाके निवासी परहितपरायण पं० विक्रमादित्यजी आदि चार भाइयोंमें सबसे छोटे श्रीरामलग्नजी। इनके साथ मेरा कोई पूर्व परिचय नहीं था। मैं मीठाबेलसे सामान लेकर काशी जानेके लिये चौरीचौरा जा रहा था; अचानक गठरी मेरे सिरसे उतरी और अन्य सिरपर चली गयी। वह थे रामलग्नजी, जिनसे कोई परिचय न था। गठरी ढोते हुए वे चौरीचौरा ही नहीं, अपितु वाराणसीतक मेरे साथ पहुँच गये।

हम दोनों गौरीशंकर गोयनका-महाविद्यालयमें पं० रामयशजी त्रिपाठीसे पढ़ने लगे। आये दिन परहितका ध्यान रखकर कोई-न-कोई संकट अपने ऊपर रामलग्नजी ले ही लिया करते थे। यहाँतक कि नयी धोती, नया कुर्त्ता सदा दूसरोंको ही दे दिया करते थे। मैं विद्यालयसे आकर भोजन तैयार करके प्रतीक्षामें बैठा रहता कि वे आयें तो साथमें भोजन करें। प्रतिदिन आकर वे यही सुनाते कि आज एक बीमार भाई मिल गया था, उसे रिक्शेपर बिठाकर उसके स्थानपर छोड़ने चला गया था तो आज एक विद्यार्थीके पास भोजन नहीं था, उसका प्रबन्ध आवश्यक था इत्यादि।

परीक्षोपरान्त रामलग्नजी तो घर चले गये, मुझे साहित्यसे विशेषयोग्यता देनी थी, अतः मैं रुक गया; परंतु ज्वरका शिकार हो गया। आगे-पीछे कोई न था। तीन दिनतक ज्वराक्रान्त निस्सहाय पड़े रहनेपर मैंने रामलग्नजीको पत्र लिखा। पाँचवें दिन मडुवाँके पं० रामअवधजी पाण्डेय टाँगा लेकर आये और मेरा नाम लेकर बुलाने लगे। ज्वरावस्थामें ही मैंने पूछा; 'आप कौन हैं, कहाँसे आये हैं?' क्योंकि इनसे कोई परिचय न था। इनको तो रामलग्नजीने पत्र लिखकर मेरे पास भेजा था। ये सज्जन मुझे अपने निवासस्थान राममन्दिर ब्रह्मनालमें ले गये और इन्होंने वैद्योंकी दवासे मुझे स्वस्थ ही नहीं किया अपितु मेरे भोजन तथा पढ़ाईके साधनकी भी व्यवस्था की।

मैं स्वामी श्रीआत्मानन्दजीकी प्रेरणासे पंजाब आ गया तो रामलग्नजी भी पता लगाते हुए आ पहुँचे। हम दोनों गीता-मन्दिर अबोहरमें रहते थे। सब सोये हुए होते, तब रामलग्नजी उठकर मन्दिरकी सफाई विधिवत् कर डालते और साथ ही बोलते जाते—

हीरा जन्म अनमोल रे साजन, हीरा जन्म अनमोल॥
मनसे छल अरु कपट त्याग, द्वेषसे तू शत योजन भाग।
क्रोध समझकर काला नाग, मीठी वाणी बोल रे साजन॥ हीरा०
मायाके चक्करमें आकर, इस दुनियासे मन भरमा कर।
धन-यौवनमें मोह बढ़ाकर, ऐसे ही मत रोल रे साजन॥ हीरा०
जिसको वन-वन खोज करत है, जाहि भजत दिन-रैन रटत है।
सो हरि हृदय माँझ बसत है, पट हृदयका खोल रे साजन॥ हीरा०

इसी समय दक्षिण हैदराबादका सत्याग्रह आरम्भ हुआ। पं० जीको जातिकी सेवाका अच्छा मौका मिल गया। पं० बुद्धदेव विद्यालंकारके साथ घूमते हुए अपने तीन सौ साथियोंके सङ्ग औरंगाबादमें १८ मासके लिये कारागारमें बंद हो गये। उनके नाते मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त हो गया। जेलमें इनका त्याग, तप, बलिदान देखने लायक था। भोजन कम मिलता तो अपने भूखे रहकर दूसरोंको खिलाते। काम अधिक करना पड़ता तो दूसरोंका भी काम कर देते। मार पड़ती तो मार खानेवालेके आगे जाकर सिर नीचा कर देते और प्रहार सह लेते। संध्या, कीर्तन, भजन, उपदेश सदा करते और दूसरोंको भी प्रेमसे सिखाते। मैं यह सब देखा करता और मन-ही-मन सोचता कि ये मनुष्य हैं कि देवता हैं या कोई अवतारी व्यक्ति हैं। क्रोधादिके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी कभी भी क्रोधका शिकार होते उन्हें नहीं पाया। जेलसे छूटते ही पुनः पंजाब आ गये और चेचकके शिकार होकर हमें सदाके लिये छोड़ गये। धन्य है ऐसा जीवन और धन्य है वह परिवार!

—साहित्यायुर्वेदरत्न शंकरप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री 'प्रभाकर'

(२)

विलक्षण न्यायप्रियता

कुछ पुरानी बात है, लाला बैजनाथजी शेसन जज थे। उनके एक ही लड़की थी, जिसका विवाह तो तीन साल पूर्व ही हुआ था। लड़कीका पति बहुत अच्छा सम्भ्रान्त घरानेका पढ़ा-लिखा युवक था। परंतु एक बार उसका किसीसे किसी

बातपर झगड़ा हो गया। झगड़ा बैठते-बैठते मार-पीट शुरू हो गयी। क्रोधमें मनुष्य परिणामको सर्वथा भूल जाता है, उसकी बुद्धि मारी जाती है। बैजनाथजीके जामाताकी यही दशा हुई। उसने अपने विरोधीपर घातक प्रहार कर दिया और वह मर गया। युवक पकड़ा गया। नीचेकी अदालतने उसपर खूनका आरोप लगाकर शेसन सुपुर्द कर दिया और वह मामला उस समय आगराके शेसन जज लाला बैजनाथजीकी अदालतमें गया।

घरवाले प्रसन्न हो गये कि कैसे भी हो, लाला बैजनाथजी अपने दामादको छोड़ ही देंगे। बैजनाथजीने चाहा कि मामला उनकी अदालतमें न रहे, उन्होंने प्रकारान्तरसे प्रयत्न भी किया, पर मामला दूसरी अदालतमें नहीं भेजा गया। उस समयके अंग्रेज गवर्नर तक बात गयी। उन्होंने भी यही कहा कि 'मामला लाला बैजनाथजीकी अदालतमें ही रहेगा। लालाजीकी न्यायशीलतामें उन्हें विश्वास है।'

घरवालोंने—यहाँतक कि लालाजीकी पत्नीने कई बार कहा, लड़केके पिता-माताने भी उनसे कहलवाया कि लालाजी लड़केकी प्राण-रक्षाका ध्यान रक्खें। लालाजी सुन लेते; पर कोई उत्तर नहीं देते। मामला सच्चा था। सबूतके गवाह आदिके द्वारा भी खून करना प्रमाणित था। लालाजीने सोचा—'अभियुक्त बैजनाथका दामाद है, उसे फाँसी होगी तो बैजनाथ अवश्य रोयेगा। सब घरवालोंपर वज्रपात होगा। पर न्यायके आसनपर बैठे हुए जजका वह कोई नहीं है। जजको तो न्याय करके ही न्यायासनकी पवित्रताको बचाना है।'

आज फैसला सुनाया जायगा। सभी लोग उत्सुक हैं। घरवाले पूरी तो नहीं, पर इस आशामें अवश्य हैं कि प्राणरक्षा तो होगी ही, कारावास भले हो जाय। पर हुआ उलटा ही, लाला बैजनाथजीने फाँसीकी सजा सुना दी। अदालतमें कुहराम मच गया। बैजनाथजी गम्भीर स्तब्ध थे। घर जाकर अवश्य ही रोये; क्योंकि उस समय वे लड़केके ससुर थे।

पूर्वव्यवस्थाके अनुसार गवर्नरके पास समाचार पहुँचा और सहृदय गवर्नरने दूसरे ही दिन तारके द्वारा विशेष आदेश भेजकर लड़केकी फाँसीकी सजा रद्द कर दी। बड़ा प्रभाव पड़ा गवर्नरपर लाला बैजनाथजीके न्यायपूर्ण फैसलेका। लाला बैजनाथजीकी पदोन्नति भी हो गयी।

लाला बैजनाथजी यदि ममतावश न्यायपथसे डिगकर दामादको छोड़ देते तो सरकार अपील करती; मामला सच्चा और प्रमाणित था, उसे फाँसी होती ही। लालाजीके द्वारा पवित्र न्यायासनकी प्रतिष्ठा बिगड़ती, उनपर कलङ्क लगता और शायद नौकरी भी चली जाती। भगवान्‌ने सुबुद्धि देकर उनके लिये न्यायरक्षा करवायी। सर्वत्र सुख छा गया!

—हरिदत्त शर्मा

(३)

भगवत्कृपा-परवशता

कुछ वर्षों पहलेकी पुरानी घटना है। मईका महीना था, लू और धूपसे जनसाधारण परेशान थे। मैं लखनऊसे छोटी लाइनकी एक्सप्रेस ट्रेनसे बस्तीको जा रहा था। ट्रेनके तीसरे दर्जेमें काफी भीड़ थी और बहुत-से लोग खड़े-खड़े ही यात्रा कर रहे थे। ट्रेन जब बाराबंकी पहुँची तो स्टेशनपर यात्रियोंका बड़ा जमाव था और कई लोग इधर-से-उधर जगहकी खोजमें दौड़ रहे थे। ट्रेन शायद पाँच मिनट ही रुकती थी। कुछ लोग काफी कशमकशके बाद कूद-फाँदकर हमारे डिब्बेमें घुस आये और वातावरणमें घुटनका अनुभव होने लगा। जैसे ही ट्रेन चली तो एक व्यक्ति और उसकी औरत सामानके साथ गाड़ीमें घुसनेका प्रयत्न कर रहे थे, अंदरके मुसाफिरोंमेंसे कुछने डाँट-फटकार की और रोष प्रकट किया। परंतु कुछने, चूँकि गाड़ी चल चुकी थी और पुरुष किसी प्रकार अंदर आ चुका था, इसलिये उसके सामान और स्त्रीको भी घुसनेमें सहायता दी।

वे दम्पति मुसल्मान थे और बदहवासीकी दशामें डिब्बेमें आये थे। किसीने उनसे पूछा कि 'कहाँ जाओगे, तो उस पुरुषने जवाब दिया—'करनलगंज'। तभी कई लोगोंने कहा कि 'यह गाड़ी तो वहाँ नहीं रुकेगी।' यह सुनकर मानो उस आदमीके होश उड़ गये और उसकी बीबी भी परेशान हो गयी। किसीने कहा कि 'बड़े बेवकूफ लोग हैं, बिना समझे-बूझे गाड़ीपर चढ़ जाते हैं।' दूसरेने कहा कि 'गोंडामें जब गाड़ी रुकेगी तो डाक-गाड़ीका तावान और टिकटके दाम अलग चार्ज होंगे, तब तबीयत ठीक हो जायगी।' यह सुनकर उस गरीबपर घड़ों पानी पड़ गया और वह हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। मानो साँप सूँघ गया हो। गरीब आदमी टिकटके पैसे और जुर्माना कहाँसे देगा। असुविधा और समयकी बर्बादी जो होगी सो

अलग। इतनेमें उसकी औरत, जो चुप थी, एकदम बरस पड़ी—

'इस जाहिल मर्दुयेकी वजहसे हमेशा परेशानी ही उठानी पड़ती है, बिना जाने-बूझे चढ़ गये, न पूछा न गछा—अब बेइज्जती जो उठानी पड़ेगी सो अलग, कपड़े और सामान भी बिक जायँगे।'

वह आदमी गुमसुम खड़ा रहा और गम्भीर मुद्रामें उसने कहा 'अब अल्लाह मालिक हैं।'

यात्रियोंमें कुछ लोगोंने कटु शब्द भी कहे, कुछ लोगोंने हास-परिहासयुक्त कटाक्ष छोड़े। उसकी औरतकी जबान कतरनीकी तरह चल रही थी और उसने अपने पतिकी बेवकूफी तथा निकम्मेपनपर अच्छा खासा भाषण दे डाला और उसे कोसती रही, परंतु वह आदमी यही कहता रहा 'या अल्लाह, तेरा ही भरोसा है, मेरी इज्जत अब तेरे ही हाथ है।'—उसकी भाव-मुद्रा बड़ी गम्भीर थी और उसकी आत्मा अपने अल्लाहसे अनुनय-विनय कर रही थी। वह किसीके डाँट-फटकारकी ओर ध्यान नहीं दे रहा था। उसकी हालत देखकर कुछ समझदार लोगोंपर बड़ा असर पड़ा। वे उस कुलटा स्त्रीपर, जिसकी कटु वाणी अपने दुर्वचन और क्रोधपूर्ण फटकारोंको छोड़नेका नाम ही न ले रही थी—नफरतभरी निगाहोंसे देख रहे थे—। उस गरीब आदमीके लिये समस्या टिकटकी थी। एक सज्जनने कहा कि—'अगर गाड़ी किसी कारणवश कर्नलगंज रुक जाय तो ये लोग उतर सकते हैं।' परंतु ऐसा असम्भव-सा प्रतीत होता था। उस आदमीने यह बात सुनी और वह अपने मौलासे अधिक विनीत और निश्चल भाव-से विनय करने लगा।

गाड़ी सनसनाती चली जा रही थी। लोगोंका ध्यान अब उस तरफ कम होने लगा। केवल उस औरतकी जली-कटी बातें और मर्दके प्रति असंतोषकी एक आध चटकार सुनायी दे जाती थी। कर्नलगंज निकट आ रहा था।

लोगोंने सहसा देखा कि स्टेशनका सिगनल उठा हुआ है अतः गाड़ी रुकने लगी। जैसे ही गाड़ी रुकी, वे दोनों दम्पति लाइनके किनारोंके तारोंको फाँदकर बाहर हो गये। औरत तो अपना सामान सँभालने लगी, परंतु वह साधु-प्रकृति गरीब अपना अँगोछा बिछाकर सिजदेमें गिरा। गाड़ी चलने लगी, संध्याकालीन सूर्य पश्चिम दिशामें अपनी स्वर्णिम लाली बिखेर रहा था और वह अल्लाहका प्यारा अपने मौलाके सम्मुख दोजानू सिजदेमें था। उसकी आँखोंसे अश्रुधारा और हृदयमें विह्वलता उमड़ी आ रही थी।

सब लोग उस बेचारे गरीबकी निश्चलता और भगवान्‌की भक्त-वत्सलता और शरणागतकी पुकारपर कृपापरवशता देखकर आश्चर्यचकित हो गये। वे उस अनजाने गरीबकी भगवद्भक्ति, निश्छल श्रद्धा और स्वाभाविक सरल विश्वास आदि गुणोंपर विचार-विनिमय करते आगे बढ़े।

अब भी कभी-कभी उस दृश्यकी स्मृति आते ही हृदयमें आनन्दका संचार हो जाता है।

—रामकृष्णलाल एम्० ए०, लखनऊ

(४)

एक सच्चरित्र छात्रकी सज्जनता

बात १९६६ के जनवरी मासकी है। मैं कॉलेजकी छुट्टीके पश्चात् साइकिलके द्वारा घर लौट रही थी। कॉलेजसे घर जानेके रास्तेमें बीचमें कुछ निर्जन स्थान भी पड़ता है। कॉलेजके समीपसे ही दो छात्र मेरे पीछे पड़ गये। उस निर्जन स्थानमें पहुँचते ही वे मुझे साइकिलसे गिरानेकी कोशिश करने लगे; पर प्रत्येक बार ईश्वरकी कृपासे मैं बचती गयी। कुछ आगे जानेपर रास्तेके दोनों किनारे कुछ दूरतक गोबर पड़ा हुआ था। उसी गोबरमें मुझे गिरानेकी वे लोग चेष्टा करने लगे और मेरी साइकिलको ऐसी लात मारी कि मैं साइकिलसे गिरते-गिरते बची। इसी बीच उधर एक और सज्जन छात्र आ निकले, जिन्होंने इनकी बुरी हरकतोंको देख लिया और मुझे इनके चंगुलसे बचाना अपना पावन कर्तव्य समझा। उस छात्रकी उपस्थितिमें ही जैसे ही इन लोगोंने साइकिलको आगे बढ़ाकर मेरी साइकिलको धक्का मारना चाहा, उन्होंने भी तेजीसे अपनी साइकिलको आगे बढ़ा लिया और उन लोगोंकी साइकिलको ऐसा धक्का मारा कि वे दोनों छात्र अपनी साइकिलसमेत गोबरमें जा गिरे। जिससे उनके सारे कपड़े गोबरमें सन गये और उन्हें अपने कुकर्मोंका हाथों-हाथ फल मिल गया। मैं उन छात्रके प्रति कृतज्ञता भी प्रकट न कर पायी थी, कि उन्होंने तेजीसे अपनी साइकिलको दूसरी गलीमें मोड़ लिया और मैंने भी तेजीसे अपने घरकी ओर प्रस्थान किया। मैं ईश्वरको धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस विकट परिस्थितिमें ठीक समयपर समर्थ सहायक भेजकर बचाया और मैं उन छात्र भाईकी भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस विकट परिस्थितिसे बचाया।'

—एक छात्रा, राँची

गोहत्या-निवारण तथा दिल्ली-जेलमें अनशन करनेवाले साधुओंको तुरंत छोड़नेकी अपील

गोहत्याके निवारणके लिये दिल्लीकी जेलमें लगभग वीस साधु आमरण अनशन कर रहे हैं और सरकारका उन अनशनकर्ताओंपर कोई ध्यान नहीं है, अपितु सुना यह गया है कि जेल-अधिकारी उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। यदि यह सत्य है तो वस्तुतः बड़े खेदकी बात है। अनशन करनेवाले ये साधु जेलमें सड़ते रहें, अधिकारियोंके दुर्व्यवहारको सहते रहें और उनकी उचित माँगपर विचार करना तो दूर रहा, उसे सुनना भी सरकारको नागवार लगे—सरकारके लिये यह सर्वथा अशोभनीय है।

ऐसा लगता है कि सिद्धान्ततः प्रजातन्त्रका जो भी उदात्त स्वरूप हो, पर व्यवहारतः वास्तविकता कुछ और ही है तथा भारतके वर्तमान प्रजातन्त्रमें जनताकी माँगके औचित्यको महत्त्व नहीं, अपितु माँगके लिये किये गये अवाञ्छनीय तथा उग्र आन्दोलनको महत्त्व है। अनुचित माँगके लिये यदि हिंसात्मक उग्र कार्य किये जायँ तो सरकार झुक जायेगी और उचित माँगको शीलसहित निवेदन किया जाय तो उस शीलकी कोई कीमत नहीं। अवाञ्छनीय शोर-गुलकी आवाज तो सरकारतक पहुँच सकती है; किंतु जो माँग विशुद्ध राष्ट्रीय है, विशुद्ध देशहितकी भावनासे प्रेरित है और विशुद्ध रूपसे भारतीय गौरवकी पोषक एवं भारतीय संस्कृतिके अनुकूल है, उस माँगको सुननेमें सरकारको कठिनाई होती है।

अपनी धर्म-निरपेक्ष सरकार गायके आध्यात्मिक-धार्मिक महत्त्वपर ध्यान नहीं देना चाहती। (बल्कि सत्य तो यह है कि लौकिक महत्त्वकी अपेक्षा गायका आध्यात्मिक और धार्मिक महत्त्व कहीं अधिक है।) पर गायके अन्य ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि पक्ष भी हैं, जिनके लिये गोरक्षा नितान्त आवश्यक है। प्राचीन साहित्यमें वर्णित गोमहिमाका, आध्यात्मिक-धार्मिक साधनाओंमें गोमहत्ताका, हिंदू-राजाओं एवं यवन बादशाहोंद्वारा किये गये गोरक्षा-प्रयासोंका, आर्थिक विकासके लिये गो-उपयोगिताका तथा इस प्रकारसे अन्य दृष्टियोंका मैं यहाँ उल्लेख नहीं करता। इससे सब परिचित हैं। पर प्रत्येक समाजके कुछ सम्मान-बिन्दु हुआ करते हैं। इस दृष्टिसे सोचें। प्रत्येक समाजके कुछ स्थायी आधार होते हैं। जिस तरह निर्गुण-सगुण-सिद्धान्त, कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म-सिद्धान्तके अभावमें भारतीय दर्शनकी कल्पना नहीं की जा सकती; जिस तरह राम, कृष्ण और संतोंकी कथाके अभावमें भारतीय वाङ्मयकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह गीता, गङ्गा और गायके अभावमें भारतीय गौरव, भारतीय संस्कृति, भारतीय समाजकी कल्पना नहीं की जा सकती। देशके सम्मानके लिये गायके सम्मानकी परमावश्यकता है। गोमाता हिंदूसमाजकी एक गौरवकी वस्तु है। इसीलिये महात्मा गांधी कहा करते थे—'गोरक्षा हिंदूधर्मकी दी हुई दुनियाको बख्शीश है। हिंदूधर्म भी तभीतक रहेगा, जबतक गायकी रक्षा करनेवाले हिंदू हैं।' फिर कहा है—'भारतवर्षमें गोरक्षाका प्रश्न स्वराज्यसे किसी प्रकार भी कम नहीं है। कई बातोंमें मैं इसे स्वराज्यसे भी बड़ा मानता हूँ। जबतक हम गायको बचानेका उपाय ढूँढ़ नहीं निकालते, तबतक स्वराज्य अर्थहीन कहा जायगा।'

इसी तरह संत विनोबा भावेजी लिखते हैं—'इस देशमें गोहत्या नहीं चल सकती। गाय-बैल हमारे समाजमें दाखिल हो गये हैं। सीधा प्रश्न है कि आपको देशका रक्षण करना है या नहीं ? यदि करना है तो गोवध भारतीय संस्कृतिके अनुकूल नहीं आता। इसका आपको ध्यान रखना चाहिये। गोहत्या जारी रही तो देशमें बगावत होगी। गोहत्याबंदी भारतीय जनताका मैनडेट या लोकाज्ञा है और प्रधान मन्त्री महोदयको इसे मानना चाहिये।'

रजि० सं० एल्० १७५

संविधानमें गोरक्षाको स्पष्ट भाषामें स्वीकार किया गया है; पर उस भाषाको तोड़-मरोड़कर अर्थका अनर्थ किया गया। इसके बाद भी गोरक्षाका आन्दोलन चलता रहा। तब केन्द्रने यह कहकर टाल दिया कि यदि राज्य-सरकार अपने-अपने यहाँ कानून बनाये तो बना सकती है। जिन कुछ राज्योंमें कानून बने तो उनको कार्यान्वित करनेका अवसर या सहयोग नहीं दिया गया। जितने भी कमीशन इस विषयपर विचार करनेके लिये बैठाये गये, सबने गोहत्याका विरोध किया; पर उनके सुझावपर अमल नहीं किया गया। अब अमेरिकन विशेषज्ञोंको बुलाकर उनसे राय सरकार ले रही है। वे विशेषज्ञ गोहत्याको जारी रखनेका अपितु बढ़ावा देनेका सुझाव देते हैं। इन अमेरिकन विशेषज्ञोंसे सुझाव लेने या सुझाव माननेसे पहले यह तो सोचना चाहिये कि क्या इन विशेषज्ञोंको भारतका सांस्कृतिक दृष्टिकोण प्राप्त है? अपने देशकी परम्परा और सम्मानको भूलकर परानुकरण किसी भी प्रकारसे देशके हितमें नहीं है।

खेद तो तब और भी अधिक यह देखकर होता है कि सरकारी पदोंपर अबतक भी अपने कुछ ऐसे महानुभाव हैं, जो गांधी-विनोबाके अनुयायी हैं, जो व्यक्तिगत रूपसे गोहत्या-निवारणके पक्षमें हैं, जो समाजहितकी दृष्टिसे इस बातको मनसे स्वीकार भी करते हैं; किंतु फिर भी एक सदोष प्रशासन-व्यवस्था (Administrative Set-up) के शिकार होकर या कुछ अभारतीय अथवा अराष्ट्रीय धमकियोंसे भयभीत होकर अपनेको पंगु मान बैठे हैं।

सरकारको चेतना चाहिये तथा देशके हितके लिये, समाजके सम्मानके लिये और जनताकी भावनाके आदरके लिये गोहत्याको सम्पूर्ण रूपसे बंद कर देनेकी घोषणा करनी चाहिये। अन्यथा—**'यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरके नरः'** (जिस नरके घरमें गाय दुःखिता हैं, वह नरकमें जाता है) में निहित तथ्यके अनुसार भारत भी अनेक नरकोपमेय संकटों-कष्टोंसे ग्रस्त होगा। गोहत्या अशुभकी सूचक है। यह अमङ्गलको बुलावा है।

सरकारके साथ-साथ प्रत्येक हिंदूसे (चाहे वह सनातनी हो, बौद्ध हो, जैन हो, सिक्ख हो या अन्य कोई हो), अपितु प्रत्येक भारतीयसे मेरी प्रार्थना है कि वे भी गोरक्षाके कार्यमें पूर्ण सहयोग दें। व्यक्तिगत जीवनमें ऐसा कोई कार्य न करें जो गोहत्याको परोक्ष या प्रत्यक्ष रूपसे सहारा दे तथा सामाजिक जीवनमें वे सरकारपर विशेष दबाव डालें कि सरकार गोहत्या-निवारणके लिये तुरंत ठोस कदम उठाये। अब आम चुनाव आनेवाले हैं। जनता उन्हींको मतदान दे, जो गोरक्षाका वचन दें।

मैंने यह भी सुना है कि देशके कुछ बड़े-बड़े महात्मा आमरण अनशनका विचार कर रहे हैं। आध्यात्मिक और धार्मिक जगत्के मूर्धन्य व्यक्ति जब इस प्रकारसे अपने जीवनको होम देनेके लिये तैयार हो रहे हैं तो वस्तुतः यह हमारी सरकारके लिये तथा हमारे समाजके लिये एक बड़ी लज्जाकी बात है। इस अनशन-यज्ञमें यदि इन महापुरुषोंने भाग ले लिया तो बड़ा अनर्थ होगा। सरकारसे मेरी यह विनम्र विनती है कि वह तुरंत **इस समस्यापर शान्त मनसे विचार करे, दिल्लीजेलमें अनशन करनेवाले साधुओंके साथ सद्व्यवहार करे, उचित आश्वासन देकर उन साधुओंको शीघ्रातिशीघ्र रिहा करे तथा भारतमें सम्पूर्ण गोवध-बंदीके लिये अविलम्ब घोषणा कर दे।**

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

'कल्याण'के नये आजीवन ग्राहक नहीं बनाये जायँगे

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनानेकी जो योजना थी, वह कई कारणोंसे अबसे रद्द कर दी गयी है। अतः अबतक जो आजीवन ग्राहक बन चुके हैं, उनके अतिरिक्त नये आजीवन ग्राहक अब नहीं बनाये जायँगे। इसलिये अबसे आजीवन ग्राहकके रुपये कोई सज्जन न भेजें। व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)